शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६५ ☆ कार्तिक वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ७ (२४७)

आज के मंगलमय प्रभात में परम इष्टरूप आनंदरूप अभिनंदनीयरूप ऐसे सिद्धपद को तथा उनके साधक संतजनों को परम आदर से भक्तिपूर्वक अभिनंदन करते हैं, हम सबको इस सिद्धिपंथ पर सुखपूर्वक ले जानेवाले पूज्य सत्पुरुष गुरुदेव को भावभीगे चित्त से अभिनंदन कीजिये, और उनकी मंगल छाया में सब साधर्मी हिल-मिलकर मुक्तिपुरी के वीर के मार्ग पर चलें, ऐसी उत्तम शुभेच्छाओं के साथ आत्मधर्म अपने हजारों साधर्मी पाठकों को अत्यंत वात्सल्यपूर्वक अभिनंदन दे रहा है।

अनंत सामर्थ्यवान निजात्मद्रव्य की
अपूर्व महिमा

१— जगत में जीवद्रव्य अनंत हैं।

२— जीवों से पुद्गलद्रव्य अनंतगुने हैं।

३— पुद्गलों से तीन काल के समय अनंतगुने हैं।

४— तीन काल के समयों से आकाश के प्रदेश अनंतगुने हैं।

५— आकाश के प्रदेशों से एक द्रव्य के गुण अनंतगुने हैं।

६— इन एकेक द्रव्य के अनंत गुणों को—छह द्रव्य (-छह जाति के द्रव्य) जिनकी संख्या अनंत है, उसके द्वारा गुनने से सभी द्रव्य के सब गुणों की संख्या होती है, जो अनंत है।

७— इन सब द्रव्यों के सब गुणों की संख्या को तीन काल के समयों की जो अनंत है, उनके द्वारा गुनने से सर्व पर्यायों की संख्या होती है, जो अनंत है।

८— एक पर्याय के अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उसके द्वारा उपरोक्त सब द्रव्यों के सब गुणों की सभी पर्यायों की संख्या को गुनने से अनंतानंत अविभाग प्रतिच्छेद होता है।

९— उपरोक्त सब अविभाग प्रतिच्छेदों को एक समय में जानने का सामर्थ्य केवलज्ञानरूप पर्याय में है (यदि उनसे अनंतगुने ज्ञेय हों तो भी उन सभी को जानने का सामर्थ्य केवलज्ञान में है ही)

१०— इस ज्ञानपर्याय से ज्ञानगुण का सामर्थ्य अनंतगुना है।

११— इस ज्ञानगुण से आत्मद्रव्य का सामर्थ्य अनंतगुना है।

१२— ऐसे अनंत अपरिमित सामर्थ्य को सदा धारण करनेवाले निज आत्मद्रव्य की अपूर्व महिमा अंतर में लाकर जो जीव उसका आश्रय करता है, उसे अवश्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है और जगत के सर्व अन्य पदार्थों की तथा परभावों की महिमा श्रद्धा में से छूट जाती है। श्रुतज्ञान केवलज्ञान के अनुसार जानता है।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

नवम्बर : १९६५ ☆ वर्ष २१वाँ, कार्तिक, वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ७

धर्मसाम्राज्यनायक-आदि तीर्थंकर

भगवान श्री ऋषभदेव

[जिन्होंने अनेक भव्यों को तत्त्वज्ञान प्राप्त कराया है और जो तीनों लोकों के गुरु हैं, ऐसे भगवान ऋषभदेव अनेक देशों में विहारकर चंद्रमा के समान उज्ज्वल ऐसे कैलाशपर्वत को प्राप्त हुए। वहाँ देवों के द्वारा रचित, सुंदर और शोभा बढ़ानेवाले सभा मंडप में विराजमान हुए। आगे क्या होता है, उसे जानने के लिये भगवान श्री जिनसेन आचार्यकृत महापुराण के आधार से लिखी गई यह लेखमाला पढ़िये।]

(गतांक से चालू)

भरत चक्रवर्ती ने समस्त दिग्विजय में सफलता प्राप्त कर अयोध्यानगर की ओर प्रस्थान किया। बीच में कैलाशपर्वत को समीप ही देखकर सेनाओं को वहीं पास में ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के लिये प्रयाण किया। धर्मबुद्धि को धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वत के नीचे दूर से ही सवारी आदि परिकर को छोड़कर पैदल चलने लगे। समस्त लोक को उल्लंघन करनेवाली इस पर्वत की महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर सभी के गुरु भगवान श्रीवृषभदेव इस पर विराजमान हैं। भरत चक्रवर्ती प्रसन्नचित्त से कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेव का समवसरण जान पड़ा। इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं—राह देखते हैं; इसलिये जानकर गणधरादि देवों ने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है। भरत महाराज ने भाव से नमस्कार और अष्ट प्रकार पूजन कर श्री ऋषभदेव की स्तुति की।

हे देव! जिस समय आपके केवलज्ञान नाम की उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी, उसी समय आपने **मर्यादा के बिना ही** समस्त लोक और अलोक को जान लिया था। हे देव! वक्ता की प्रमाण से ही वचनों की प्रमणता मानी जाती है। हे नाथ! समस्त पदार्थों को विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभंगरूप वाणी ही आपमें आप्तपने की निर्मल प्रतीति उत्पन्न कराने के लिये समर्थ है। हे भगवन! अनेक दिशाओं में भ्रमण करने के लिये मुग्ध होकर मैंने जो कुछ पाप उपार्जन किया था, वह आपके दर्शनमात्र से उसप्रकार विलीन हो गया है, जिसप्रकार कि सूर्य के दर्शन से रात्रि का अंधकार विलीन हो जाता है। हे उत्कृष्ट ऋद्धियों को धारण करनेवाले! आप उत्कृष्ट पूजा के योग्य हैं तथा रहस अर्थात् अंतराय, रज अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अरि अर्थात् मोहनीयकर्म के नष्ट करने से आपने अरिहंत ऐसा सार्थक नाम प्राप्त किया है; इसलिये आपको नमस्कार हो। आपके वचनों में, कहीं भी विरोध नहीं आता किंतु प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है, पररूप से नहीं है; पराधीन नहीं है, स्वाधीन ही है; इसप्रकार स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि द्वारा स्याद्वाददृष्टि से पदार्थों का उपदेश आता है; इसलिये आप ही वीतराग-सर्वज्ञ हो। समस्त भाषाओं रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्यध्वनि को, वचन नहीं बोल सकते ऐसे पशु-पक्षी आदि तिर्यंचों के भी हृदय के अंधकार को दूर कर देती है। आपके श्रीमंडप की रचना एक ही योजन लंबी-चौड़ी है, तथापि वह तीनों जगत के जन समूह के निरंतर प्रवेश कराते रहनेरूप उपकार में समर्थ है।

जो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति चला रहे हैं, और अनेक ऋद्धियों से सुशोभित हैं, ऐसे वृषभदेव आदि चौरासी हजार चौरासी मुनिराज जिनकी निरंतर पूजा करते हैं, ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्यिकाऐं जिनका स्तवन करती हैं, दृढ़व्रत आदि तीन लाख श्रावक जिनकी सेवा कर रहे हैं और सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाऐं जिनकी स्तुति कर रही हैं, एवं अनेक देव-देवियाँ और शेर आदि तिर्यंच जिनकी सेवा कर रहे हैं और चौंतीस अतिशय विशेषों से जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्य को प्राप्त हो रहे हैं, ऐसे भगवान वृषभदेव के पास जाकर हाथ जोड़े हुए चक्रवर्ती भरत ने उनकी पूजा की और धर्म का स्वरूप पूछा, तब भगवान इसप्रकार कहने लगे—

जो शिष्यों को कुगति से हटाकर उत्तम स्थान में पहुँचा दे, सत्पुरुष उसे ही धर्म कहते हैं। उस धर्म के चार भेद हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। अपने आप अथवा दूसरे के उपदेश से जीव आदि सात तत्त्वों में जो यथार्थ श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन

कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन शंका आदि दोषों से रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का अभाव होने से उन्हीं जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मों का आस्रव न हो, उसे चारित्र अथवा संयम कहते हैं। जिससे कर्मों की निर्जरा हो, निर्विकार प्रतापवंत दशा हो, ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। मिथ्यात्व, अव्रताचरण प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवों के कर्मबंध के कारण हैं।

तुम लोग भक्तिमान हो, निकट भव्य हो और आगम को जाननेवाले हो; इसलिये नित्य सुख स्वरूप में सावधानतापूर्वक दु:खस्वरूप यह संसार को छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन छहों का अच्छी तरह अभ्यास करो तथा सम्यक् मुनिधर्म का पालन करो। इसीप्रकार गृहस्थाश्रम में रहनेवाले बुद्धिमान पुरुषों सम्यग्दर्शनपूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहंत आदि परमेष्ठियों की पूजा करें और ११ प्रतिमाओं का पालन करें। मति-श्रुत-अवधि—इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को धारण करनेवाला देशसंयमी भरत, भगवान श्री वृषभदेव की वंदनाकर कैलाशपर्वत से अपने अयोध्यानगर में आया। इधर तीनों लोकों के स्वामी भगवान आदिनाथ ने भी धर्म के योग्य क्षेत्रों में समीचीन धर्म का बीज बोकर उसे धर्मवृष्टि के द्वारा खूब ही सींचा। इसप्रकार सज्जनों को मोक्षरूपी उत्तम फल की प्राप्ति कराने के लिये भगवान ने अपने गणधरों के साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्ष तक विहार किया। और जब आयु के चौदह दिन बाकी रह गये, तब योगों का विरोधकर पोष मास की पूर्णमासी के दिन श्री शिखर के बीच में कैलाशपर्वत पर जा विराजमान हुए। उसी समय अनेक लोगों ने शुभ स्वप्न देखे। भरत महाराज को भी मालूम हुआ कि भगवान ने अपनी दिव्यध्वनि का संकोच कर लिया है; इसलिये सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है। यह सुनते ही भरत चक्रवर्ती बहुत शीघ्र सब लोगों के साथ कैलाशपर्वत पर गया, वहाँ उसने भगवान ऋषभदेव की तीन प्रदक्षिणाऐं दी, स्तुति की और पूजा सह १४ दिन भगवान की सेवा करता रहा। माघा कृष्ण चतुर्दशी के सूर्योदय के समय शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव अनेक मुनियों के साथ-साथ पर्यंकासन से विराजमान हुए, उन्होंने तीसरे—सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के शुक्लध्यान से तीनों योगों का निरोध किया और फिर अंतिम गुणस्थान में ठहरकर पांच लघु अक्षरों

के उच्चारण प्रमाण काल में व्युपरतक्रियानिवर्ति नाम के चौथे शुक्लध्यान से अघातिया कर्मों का नाश किया। फिर औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरों के नाश और सिद्धत्वपर्याय प्राप्तकर वे सम्यक्त्व आदि निज के आठ गुणों से युक्त हो क्षण भर में ही तनुवातवलय में जा पहुँचे तथा वहाँ पर नित्य, निरंजन, अपने शरीर से कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुख में तल्लीन और निरंतर संसार सब लोक-अलोक को देखते हुए विराजमान हुए। उसी समय मोक्षकल्याण की पूजा करने की इच्छा से सब देव लोग आये। उन्होंने भगवान का शरीर पवित्र मानकर अग्निकुमार देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से युक्त उन्नत मुकुट से उत्पन्न हुई तथा चंदन आदि सुवासित पदार्थों से बढ़ाई गई ऐसी अग्नि से उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया। तदनंतर उन्हीं इन्द्रों ने पंचकल्याणक को प्राप्त होनेवाले श्री ऋषभदेव के शरीर की भस्म उठाई और 'हम लोग भी ऐसे ही हों' यही सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और वृक्षस्थल में लगाई और अपने को धन्य समझते अपने स्थान पर पहुँचे।

इधर उस समय इष्ट के वियोग से उत्पन्न हुई और स्नेह से प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि भरत के प्रबुद्ध चित्त को भी जला रही थी। मानों भरत को भी थोड़ा-सा शोक हुआ था। तब भगवान श्री वृषभसेन गणधर ने अनेक युक्ति और सद्वचनों से भरत को समझाया। और भरत ने पिता के शोक से उत्पन्न हुई चिंता दोड़कर गणधरदेव को नमस्कार किया और भोग तृष्णा की निंदा करते हुए तथा मोक्ष के लिये उत्सुक होते हुए उसने नगर में प्रवेश किया। जो कुलकरों में पंद्रहवें कुलकर थे, तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्यों की जीविका की विधि और मोक्ष का मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हें आवरण से रहित पूर्ण अंतिम केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथ्वी के अधिपति भरत चक्रवर्ती के पिता थे, वे श्रीमान् प्रथम तीर्थंकर तुम सबको मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें। वे नाभिराज और मरुदेवी के पुत्र होकर भी स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न है; समस्त विद्वानों के पूज्य हैं, समस्त परिग्रह का त्याग कर चुके हैं, फिर भी विद्वानों के स्वामी कहे जाते हैं; मध्यस्थ होकर भी भव्य जीवों के समूह का उपकार करनेवाले हैं, ऐसे भगवान श्री ऋषभदेव तुम सबकी शांति के लिये हो—

इसप्रकार भगवान श्री जिनसेन आचार्य रचित और अवशिष्ट भाग भगवान श्री गुणभद्राचार्य प्रणीत श्री महापुराण के हिन्दी भाषानुवाद में (हिन्दी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित है) प्रथम तीर्थंकर का चरित्र वर्णन करनेवाली यह लेखमाला पूर्ण हुई।

(नोट:—श्री महापुराण शास्त्र के आधार से और दोनों आचार्य भगवंत की कृपा से हमने यह लेखमाला संकलित की है। हम भगवान श्री ऋषभदेव के परम पवित्र और रत्नत्रय से भूषित अध्यात्ममय जीवन को समझें और अपने में स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ करके आत्मकल्याण प्राप्त करें। हम अल्पज्ञ हैं, गलती होना संभव है। अत: आचार्यदेव और वाचकगण से क्षमा चाहता हूँ। अब आगमी अंक में शांतमूर्ति श्री सुकौशल और कीर्तिधर मुनिराज का भावपूर्ण चरित्र अवश्य पढ़िये।)

इन्द्रियातीत आत्मा

(पूज्य स्वामीजी का प्रवचन अश्विन शुक्ला सप्तमी)

प्रवचनसार गाथा १७२

शरीरादि से अत्यंत भिन्न आत्मा का स्वलक्षण क्या है ? कौन से असाधारण लक्षण द्वारा वह शरीरादि से भिन्न जाना जाता है ? उसका स्वरूप इस १७२वीं गाथा में बतलाया है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अलिंगग्राह्य है; आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है। वह इन्द्रियों से जाननेवाला नहीं है। परसन्मुखी इन्द्रियज्ञान वह वास्तव में आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आत्मा की शांति प्राप्त नहीं होती, यथार्थ आत्मा उसके द्वारा अनुभव में नहीं आता; इसलिये इन्द्रियज्ञान को आत्मा कहना, वह यथार्थ आत्मा नहीं है; वह व्यवहार आत्मा है। परमार्थ आत्मा उसे कहते हैं जो अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जाने। अतीन्द्रिय आत्मा अनुभव में आये, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। शरीरादि की क्रिया तो दूर रही, रागादि भी बाहर रहे और पर की ओर झुकता हुआ ज्ञान भी वास्तव में आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं है। इन्द्रियज्ञान जितना ही आत्मा लक्ष में ले तो आत्मा का सच्चा लक्षण पहचान सकते नहीं, अनंत गुण का धाम भगवान आत्मा परिपूर्ण है, वही सच्चा स्वज्ञेय है, ऐसे स्वज्ञेय की प्रतीति, सो सम्यक्त्व है। इन्द्रियों के अवलम्बन द्वारा विचारधारा से क्षयोपशम हुआ

उस ज्ञान को आत्मा नहीं कहते। उससे तो पुण्यबंध होकर स्वर्ग की गति मिलती है, आत्मा का स्वभाव उसे नहीं कहते। आत्मा के स्वभाव से पुण्यबंध नहीं होता; आत्मा के स्वभाव से संसार की कोई गति नहीं मिलती।

जो शुभभाव से आत्मा को लाभ मानता है, वह शुभ को ही आत्मा मानता है, शुभराग से भिन्न परमार्थ आत्मा को वह नहीं जानता। इन्द्रिय से ज्ञान होना माने, वह इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है, वह अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जानता। मेरा आत्मा इन्द्रियातीत है—इसप्रकार जिसे अपनी खबर नहीं है, उसे अन्य ज्ञानियों आदि की भी खबर नहीं पड़ती। स्वसंवेदन से अपने अतीन्द्रिय आत्मा को जाने, उसी को दूसरों की (भगवान की या ज्ञानी की) खबर पड़ती है। चाहे जितने शास्त्र पढ़ा हो, परंतु जिसने निश्चय आत्मा को नहीं जाना, अतीन्द्रिय आत्मा को नहीं जाना, उसका कितना भी ज्ञातृत्व हो—आत्महित के काम में नहीं आता। और शास्त्रज्ञान भले ही अल्प हो, परंतु यदि मूलवस्तु को अतीन्द्रिय स्वसंवेदन से पकड़े तो उसमें सर्व शास्त्रों का सार आ जाता है। आत्मा निरपेक्ष ज्ञानवाला है, उसे इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है, मन की अपेक्षा नहीं है, राग की अपेक्षा नहीं है। प्रभो! तेरा ज्ञान पराश्रयवाला होगा? क्या तेरा आत्मा पंगु है कि उसके ज्ञान को पर का आश्रय होगा?—नहीं; आत्मा स्वाधीन ज्ञानस्वभाववाला है, उसके ज्ञान को पर का आश्रय नहीं है; परावलंबन शर्मजनक है; उसीप्रकार ज्ञानमूर्ति आत्मा को ज्ञान करने के लिये जड़ का सहारा लेना पड़े, वह भी शर्म की बात है। जो स्वयं स्वभाव का धाम है, उसे परावलंबन का काम ही नहीं है। स्वयं अनादि से पूर्णतत्त्व चैतन्यधाम आत्मा है, उसमें पर का अवलंबन कैसा? जो स्वयं ही ज्ञान है, वह अतीन्द्रियरूप से जानने के सामर्थ्यवाला है। ऐसा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ऐसे आत्मा को लक्ष में ले तो बाह्य ज्ञातृत्व का गर्व दूर हो जाये। बाह्य की महिमा छूटेगी, तब यह अतीन्द्रिय वस्तु हाथ में आयेगी। भाई! आत्मारूप होकर आत्मा को देख। इन्द्रियरूप होकर आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता। एक बार इन्द्रियातीत होकर स्वसन्मुख हो.. अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञानरूप हो... अतीन्द्रिय ज्ञानरूप होकर आत्मा को जाना जाता है। 'मैं इन्द्रियों द्वारा जाननेवाला हूँ'—ऐसा माने तो आत्मा का परमार्थस्वरूप पकड़ में नहीं आता। 'मैं अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जाननेवाला हूँ'—ऐसे भाव भासन से पहचान करे तो परमार्थस्वरूप आत्मा ज्ञात होता है।

जंगल में निवास करनेवाले तथा आत्मा के आनंद में झूलनेवाले संतों ने स्वानुभव में भगवान के साथ बातें करते-करते यह बात लिखी है। अहो, इस पंचम काल में ऐसे मुनि हुए!!

वर्तमान में तो उनके दर्शन भी दुर्लभ हैं। अहो, उन संत-महंत के चरणों में भावनमस्कार है। वाह! धन्य है उनकी अंतरदशा!!—जिनका पंचपरमेष्ठी में स्थान है। कुंदकुंद भगवान इस भरतक्षेत्र में विचरते थे... वे तो मानों चलते हुए सिद्ध थे! जिनके दर्शन से मोक्षतत्त्व प्रतीति में आ जाता है। उनका कहा हुआ यह एक ही मार्ग संसार से पार उतरने का है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

सीमंधर भगवान सर्वज्ञपद पर विदेहक्षेत्र में विराजमान हैं.....तीन काल की समय-समय की बात उनके ज्ञान में वर्त रही है... भरतक्षेत्र में ऐसा हो रहा है, ऐसा होगा—यह सब उनके ज्ञान में साक्षात् वर्त रहा है, परंतु उनके कोई विकल्प नहीं है; वे तो निजानंद में लीन हैं। आत्मा तो आनंद का मंदिर है, अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय आनंद का धाम आत्मा है।

ऐसा अतीन्द्रिय आत्मा जिसप्रकार स्वयं इन्द्रिय से जानने के स्वभाववाला नहीं है, उसीप्रकार वह इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात हो, ऐसा भी नहीं है। अतीन्द्रिय आत्मा तो अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही ज्ञात हो, ऐसा है। ऐसा आत्मा ही आदरणीय है। बीच में व्यवहारज्ञान हो भले, परंतु वह कहीं आदरणीय नहीं है; आदरणीय तो एक परमार्थस्वभाव ही है।

आध्यात्मिक पद

सो ज्ञाता मेरे मन माना, जिन निज निज पर पर जाना ॥टेक ॥
छहों दरब तैं भिन्न जानके, नव तत्त्वनितैं आना।
ताकौं देख ताकौं जानै, ताहि के रस में साना ॥ सो ज्ञाता० ॥१ ॥
कर्म शुभाशुभ जो आवत हैं, सो तो पर पहिचाना।
तीन भवन को राज न चाहै, यद्यपि गांठ दरब बहुना ॥सो ज्ञाता० ॥२ ॥
अखय अनंती सम्पति बिलसे, भव तन भोग मगनना।
'द्यानत' ता ऊपर बलिहारी, सोई 'जीवनमुक्त' भना ॥ सो ज्ञाता० ॥३ ॥
सो ज्ञाता मेरे मन माना, जिन निज निज पर पर जाना।

मोक्षार्थी श्रावकों का प्रथम कर्तव्य

निष्कंप सम्यक्त्व का ग्रहण और उसका ध्यान

आचार्यदेव कहते हैं कि वह श्रावक भी धन्य है—
जिसने निर्मल सम्यक्त्व की आराधना प्रगट की है।

दु:ख क्षय के हेतु श्रावकों को क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

हिगऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरिव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥८६॥

श्रावकों को प्रथम तो सुनिर्मल सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिये, अत्यंत निर्मल और मेरुसमान निष्कंप ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करके उसका ध्यान करना चाहिये। चल, मलिन और अगाढ़ दोषरहित ऐसा अचल, निर्मल, दृढ़ सम्यग्दर्शन प्रगट करके दु:खक्षय के हेतु उसी को ध्यान में ध्याना चाहिये। जिसप्रकार महान संवर्तक पवन से भी मेरुपर्वत डगमगाता नहीं है, उसीप्रकार जगत की चाहे जैसी प्रतिकूलता आने पर भी सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान नहीं डिगता। देव परीक्षा करने आयें, तथापि सम्यक्त्व से च्युत न हो—ऐसा दृढ़ सम्यक्त्व श्रावक को ग्रहण करना चाहिये। निर्विकल्प आनंद के वेदन सहित ऐसा दृढ़ सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिये—ऐसा उपदेश है। दु:ख का क्षय ऐसे सम्यग्दर्शन से ही होता है, इसलिये दु:खों का क्षय करने के लिये उस निर्मल सम्यक्त्व को अचलरूप से—दृढ़रूप से निरंतर ध्याना चाहिये। सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा, उसमें अभेदरूप से सम्यक्त्व के विषयभूत शुद्ध आत्मा ध्येयरूप से आ जाता है। गृहवास सम्बन्धी जो क्षोभ-क्लेश-दु:ख हो, वह सम्यक्त्व की भावना से दूर हो जाता है। सम्यग्दर्शन में जैसा वस्तुस्वरूप प्रतीति में आया है, उसका चिंतवन करने से सर्व दु:खों का क्षय हो जाता है। देखो, यह दु:ख के नाश का उपाय! और श्रावक-गृहस्थों का प्रथम कर्तव्य! ऐसे सम्यक्त्व के बिना धर्म नहीं होता और दु:ख नहीं मिटता। जिन्हें सम्यक्त्व हुआ हो, ऐसे धर्मात्मा श्रावक बारम्बार शुद्धात्मा की भावना रूप से सम्यक्त्व का ध्यान करते हैं; इसलिये उनके निर्मलता बढ़ती जाती है। चाहे जैसी प्रतिकूलता या उपद्रव हो, परंतु जहाँ सम्यक्त्व की भावना से शुद्धात्मा पर दृष्टि डालते हैं, वहाँ धर्मात्मा सारे संसार को भूल जाते हैं। और जिन्हें अभी सम्यक्त्व प्रगट न हुआ हो, ऐसे श्रावकों-गृहस्थों को भी सम्यक्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर उसका बारम्बार चिंतन एवं भावना करने से सम्यक्त्व होता है।

सम्यग्दृष्टि ने सर्वज्ञानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप को जाना है, उसकी वे निरंतर भावना करते हैं। बाहरी कार्य सुधरे यो बिगड़े परंतु वे अपने सम्यक्त्व से नहीं डिगते; सम्यक्त्व की निष्कंपता द्वारा, नि:शंकरूप से यथार्थ वस्तुस्वरूप का चिंतन करते हैं। वे, सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप जिसप्रकार जाना है, उसीप्रकार उसका परिणमन होता है, कोई उसे बदलने में समर्थ नहीं है, इसलिए उस परिणमन में इष्ट-अनिष्टपना मानकर सुखी-दु:खी होना निरर्थक है, पर का परिणमन पर के आधीन है, उसमें मुझे कुछ भी इष्ट या अनिष्ट नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसी वस्तुस्वरूप की भावना से दु:ख दूर होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। इसलिए श्रावक को दु:ख क्षय के हेतु सम्यक्त्व का ग्रहण करके मेरु समान दृढ़तापूर्वक उसे निरंतर ध्यान में ध्याना चाहिए।

गृहस्थदशा में विद्यमान श्रावक को भी चैतन्य का निर्विकल्प ध्यान होता है और चैतन्य के ध्यान से प्रगट हुआ निर्मल सम्यक्त्व मेरुसमान अकंप होता है। चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी उसकी श्रद्धा चलायमान नहीं होती, इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि—हे श्रावक! निर्मल सम्यग्दर्शन को मेरुसमान दृढ़रूप से धारण करो और उसे निरंतर ध्याओ!

[गाथा-८७]

सम्यक्त्वरूप से परिणमित होता हुआ जो जीव उसका ध्यान करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन द्वारा दुष्ट अष्ट कर्मों का क्षय करता है। देखो, यह सम्यक्त्व की सामर्थ्य! सम्यग्दर्शन द्वारा जो शुद्ध आत्मा प्रतीति में—अनुभव में आया उसकी अचिंत्य महिमा का निरंतर ध्यान करना चाहिये। तथा जिसे सघ्म्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे भी इसी उपाय से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है?—उसकी प्रतीति में आया हुआ शुद्ध आत्मा कैसा है?—उसे जानकर उसका ध्यान करने में सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है। सम्यग्दर्शन होते ही अनंत कर्म खिरने लगते हैं और गुणश्रेणी निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। संसार का मूल मिथ्यात्व और मोक्ष का मूल सम्यक्त्व। जहाँ सम्यक्त्व का परिणमन हुआ, वहाँ आत्मा का ही अवलंबन रहा; वहाँ कर्मों की ओर झुकाव न होने से वे खिरते ही जाते हैं। आत्मा जहाँ सम्यक्त्वरूप परिणमित हुआ, वहाँ कर्म की ओर का परिणमन नहीं रहा; इसलिये कर्म का कोई आधार नहीं रहा। इसप्रकार सम्यक्त्व-परिणमन से सर्व कर्मों का नाश हो जाता है। अष्ट कर्म का बीज जो मिथ्यात्व, उसका तो सम्यक्त्व होते ही नाश हो गया है। जहाँ बीज का नाश हुआ, वहाँ कर्म का विषवृक्ष अल्प काल में सूख जायेगा। जहाँ मिथ्यात्व नष्ट हुआ, अनंतानुबंधी कषाय नष्ट हुए, वहाँ क्रमश: शुद्धता बढ़ती

जाती है और अनुक्रम से चारित्र तथा शुक्लध्यान का सहकार मिलने से सर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं। ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है।

प्रथम सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप लक्ष में लेकर बारम्बार चिंतन करके अंतर्मुख प्रवाह में उतरने से सम्यग्दर्शन होता है; पश्चात् उसी के उग्र परिणमन द्वारा चारित्र और शुक्लध्यान प्रगट होता है; इसलिये सम्यग्दर्शन सबसे मुख्य प्रथम कर्तव्य है। प्रथम संसार से विरक्ति होकर चैतन्यस्वभाव की विचारधारा प्रारम्भ हो, तब स्वभाव की सावधानीपूर्वक अंतर्मुख होने पर निर्विकल्प आनंद के अनुभवसहित सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ मोक्ष का द्वार खुल गया।

अहो, अधिक क्या कहें ? जो-जो उत्तम पुरुष पूर्वकाल में सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे—वह सब इस सम्यक्त्व का ही माहात्म्य मानना। सम्यक्त्व ही सिद्धि का मूल कारण है। ऐसा जानकर मोक्षार्थी जीवों को वही प्रथम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान या चारित्र सब पोलपोल है, उसमें कोई सार नहीं है। भगवंत और संत कहते हैं कि मोक्ष का प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन की आराधना गृहस्थाश्रम में भी होती है। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि गृहस्थाश्रम में क्या धर्म होगा ? भाई, ज्ञान-चारित्र आदि समस्त धर्मों को सफल बनानेवाला सम्यग्दर्शन गृहस्थाश्रम में भी होता है। यह सम्यग्दर्शन तो धर्म का कल्पवृक्ष है, चिन्तामणि है, कामधेनु है। छह खण्ड तथा छियानवें हजार रानियों के वैभव में विद्यमान चक्रवर्ती भी सम्यग्दर्शन की आराधना करते हैं। सम्यक्त्वी जानता है कि अहो, मेरी ऋद्धि मेरे चैतन्य में है; जगत की ऋद्धि में मेरी ऋद्धि नहीं है और मेरी ऋद्धि में जगत की ऋद्धि नहीं है। जगत से निरपेक्षरूप मुझमें ही मेरी सर्व ऋद्धि भरी है।

रिद्धि-सिद्धि-वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा,
अंतर की लक्ष्मी सों अजाची लक्षपति हैं;
दास भगवंत के उदास रहें जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा गृहस्थदशा में रहते हुए भी अपने आत्मा का इसप्रकार अनुभव करते हैं कि—मेरी चैतन्य ऋद्धि-सिद्धि सदैव मेरे अंतर में वृद्धिंगत है, अपने अंतर की चैतन्य लक्ष्मी का मैं स्वामी हूँ, मुझे जगत से कुछ लेना नहीं है। वह भगवान का दास है और जगत से उदास है। जगत से

उदास होकर वह भगवान के मार्ग की आराधना करता है। ऐसे सम्यक्त्वी जीव सदा सुखी हैं।

सम्यग्दर्शन ही धर्म के सर्व अंगों को सफल बनाता है। क्षमा आदि धर्म या ज्ञान-वैराग्यादि की सफलता सम्यग्दर्शन से ही है। सम्यग्दर्शन के बिना वे क्षमा आदि 'धर्म' नाम को प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान, वह अज्ञान है; चारित्र, वह मिथ्याचारित्र है; सम्यग्दर्शनपूर्वक ही ज्ञानादि की सफलता है।

धर्मात्मा को स्वप्न में भी चैतन्य की तथा आनंद की महिमा भासित होती है। वह स्वप्न में भी अपने सम्यक्त्व में दोष नहीं आने देता। ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा जगत में धन्य हैं; वही सुकृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित और मनुष्य हैं। भले ही शास्त्र न पढ़ा हो, पढ़ना या बोलना तक न आता हो, तथापि वह महान पंडित हैं, उसने बारह अंग का सार जान लिया है। करनेयोग्य उत्तम कार्य उसने किया है, इसलिये वह कृतार्थ है। युद्ध में हजारों योद्धाओं को जीतनेवाला लोक में शूरवीर कहलाता है, परंतु हजारों योद्धाओं को जीतने पर भी जो अंतर में मिथ्यात्व को नहीं जीत सका, वह वास्तव में शूरवीर नहीं है; जिसने मिथ्यात्व को जीत लिया है, वह सम्यक्त्वी ही शूरवीर है। सम्यग्दर्शनरहित मनुष्य को पशु समान कहा है और सम्यग्दर्शनसहित तिर्यंच को देवसमान कहा है। लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके महोत्सव करे और उसमें कृतार्थता माने, परंतु सचमुच उसमें कृतार्थ नहीं है, जिसने सम्यग्दर्शन किया, वही कृतार्थ है। आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो, वह श्रावक भी धन्य है कि जिसने ऐसे निर्मल सम्यक्त्व की आराधना प्रगट की है।

उपकार

अंतरस्वभाव की सन्मुखता और पर से विमुखता-उपेक्षा कराये,—ऐसा हितोपदेश जिन संतों ने दिया, उनके उपकार को मुमुक्षु-सत्पुरुष भूलते नहीं हैं।

'हे जीव! स्वभाव की ओर जाने से ही तुझे शांति होगी, बाह्य के (-संयोग के) लक्ष से शांति नहीं हो सकती। परद्रव्य तुझे शांतिदाता नहीं हैं, स्वद्रव्य ही तुझे शांति का दाता है... इसलिये पर से पराङ्मुख होकर स्व में अंतर्मुख हो....'

अहा! ऐसा उपदेश झेलकर जो अंतमुख हुआ-वह मुमुक्षु उपदेशदाता संतों के उपकार को नहीं भूलता।

संसार समुद्र से पार होने के लिये मुमुक्षु का जहाज

इस भवसमुद्र के मध्य में, मोक्ष को साधने के लिये मुमुक्षु को एक स्वद्रव्य ही शरणरूप है, शेष समस्त द्रव्य अशरण-अध्रुव हैं। उस पर पक्षी का दृष्टांत देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—जिसप्रकार बीच समुद्र में जहाज पर बैठे हुए पक्षी को उस जहाज के सिवा अन्य कोई शरण नहीं है, कोई आधार नहीं है; इसलिये वह आकाश में चाहे जितने चक्कर लगाये परंतु अंत में थककर वह जहाज पर ही आ बैठता है। जहाज के सिवा अन्य कोई उसे शरणरूप या आश्रयरूप नहीं है। नीचे चारों ओर अपार जल और ऊपर आकाश—वहाँ जहाज के सिवा अन्य कोई आधार नहीं है; इसलिये अन्य किसी गति का निरोध करके वह जहाज पर ही आकर बैठता है। कुछ देर उड़ता है तो जहाज के आसपास ही मँडराता है; जहाज का आश्रय छोड़कर दूर नहीं जाता और थककर जहाज पर बैठ जाता है। उसीप्रकार जहाँ मुमुक्षु जीव भवसमुद्र को पार करनेवाला पक्षी है और शुद्ध आत्मा वह जहाज है... मुमुक्षु की परिणति पुनः पुनः शुद्धात्मा में एकाग्र होती है; क्योंकि इस भवसमुद्र के मध्य में मोक्ष को साधने के लिये मुमुक्षु को एक अपना आत्मा ही ध्रुव शरणरूप

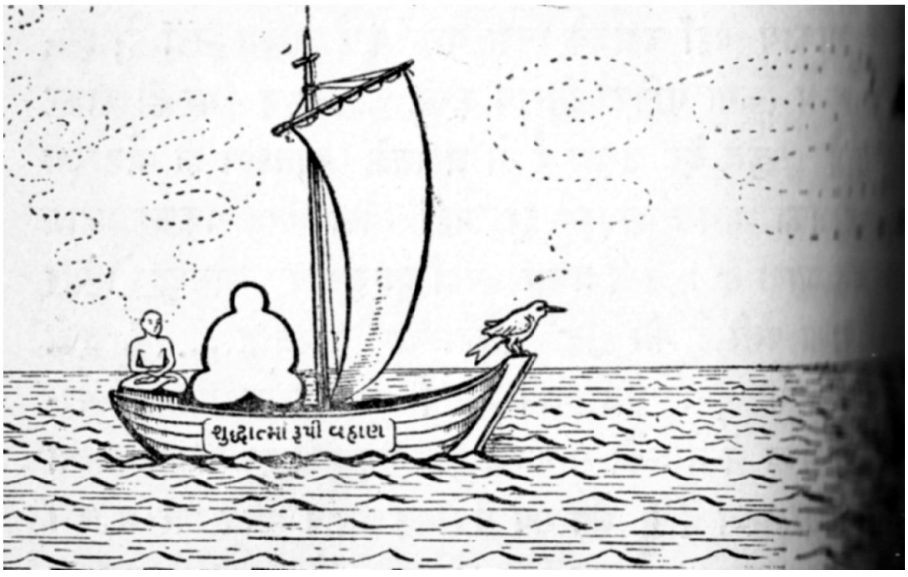

है। शेष सब संयोगरूप भाव अध्रुव और अशरण हैं। मोक्ष के यात्री मुमुक्षु को निज शुद्धात्मारूपी जहाज के सिवा अन्य कोई शरण नहीं है—दूसरा कोई आधार नहीं है; इसलिये अस्थिरता से कदाचित विकल्प आये और बहिर्भावरूपी आकाश में उड़े, तथापि स्वद्रव्य के ही अवलंबन की बुद्धि होने से अंत में तो परिणति शुद्धात्मा में ही आकर स्थिर होती है। शुद्धात्मा के सिवा अन्य कोई शरणरूप या आश्रयरूप नहीं है। विकल्प आयें तो वह आकाश में चक्कर लगाने के समान हैं, वे आश्रयरूप भासित नहीं होते; शुद्धात्मा ही आश्रयरूप जहाज समान है। इसप्रकार मोक्ष के लिये अन्य गति का निरोध होने से मोक्षार्थी की परिणति स्वद्रव्य का ही अवलंबन करती है। विकल्प उठे तब भी श्रद्धा में शुद्धात्मा का अवलंबन नहीं छूटता तथा परिणति शुद्धात्मा के आसपास ही रहती है—शुद्धात्मा तो दूर नहीं जाती। इसलिये वह मुमुक्षु जीवरूपी पक्षी शुद्धात्मारूपी जहाज में बैठकर अल्पकाल में भवसमुद्र से पार होकर मोक्षपुरी में पहुँचता है।

भेदज्ञान से ही बंधन रुकता है

[समयसार-कर्ताकर्म अधिकार, गाथा ७१ के प्रवचन से]

✣ चैतन्यतत्त्व तो अंतर्मुख है और रागादिभाव बहिर्मुख हैं, उनमें एकता नहीं है। जब तक चैतन्य की तथा राग की भिन्नता को न जाने, तब तक भेदज्ञानरूप बोधि बीज प्रगट नहीं होता। मैं तो चैत्न्य हूँ और रागादिभाव तो चैतन्य से भिन्न हैं, ज्ञान में से राग की उत्पत्ति नहीं है और राग में से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है।—ऐसा भेदज्ञान करे, तब जीव की परिणति राग से हटकर अंतर में चैतन्यस्वभाव की ओर ढलती है और तब सम्यग्दर्शनादि धर्म का अपूर्व प्रारम्भ होता है।

✣ जीव को जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ उसे धर्मलब्धि का काल आया है। भेदज्ञान ही धर्मलब्धि है। धर्म करनेवाला जीव काल को देखकर नहीं बैठ रहता, परंतु अपने स्वभाव में

अंतर्मुख होता है और स्वभाव में अंतर्मुख होने से पाँचों लब्धियाँ एक साथ आ मिलती हैं। स्वभाव में अंतर्मुख हो और धर्मलब्धि का काल न आये, ऐसा नहीं हो सकता।

✣ प्राथमिक शिष्य को धर्मलब्धि के लिये प्रथम भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। जिसप्रकार जीव और अजीवद्रव्यों में अत्यंत भिन्नता है; उसीप्रकार चैतन्यभाव में और रागादि भावों में भी अत्यंत भिन्नता है; दोनों की जाति ही अलग है।—ऐसा अंतर का भेदज्ञान, वह किसी शुभराग द्वारा नहीं होता परंतु चैतन्य के ही अवलंबन से होता है। भेदज्ञान, वह अंतर की वस्तु है; वह कोई बाहरी पढ़ाई या शुभराग की वस्तु नहीं है।

✣ अमुक शास्त्र पढ़े, तभी ऐसा भेदज्ञान होता है या व्रत-महाव्रत का पालन करे, उसी को ऐसा भेदज्ञान होता है—ऐसा कोई माप नहीं है। अंतर के वेदन में जिसने चैतन्य को तथा राग को भिन्न जाना और उपयोग को राग से पृथक् करके चैतन्योन्मुख किया, वह जीव भेदज्ञानी है; शास्त्रों ने जैसी ज्ञान और राग की भिन्नता बतलायी है, वैसी परिणतिरूप उस धर्मात्मा का साक्षात् परिणमन हुआ है।

✣ राग से तो अत्यंत भिन्नता करना है, तो वह भिन्नता राग के अवलंबन से कैसे होगी? जिसमें राग का अभाव है, ऐसे चैतन्य के अवलंबन से ही राग का और ज्ञान का भेदज्ञान होता है।

✣ देखो, इसमें निश्चय-व्यवहार का भेदज्ञान भी आ गया। निश्चय से तो स्वाश्रित चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभाव के आश्रय से भेदज्ञान होता है और व्यवहार तो पराश्रित रागभाव है, उसके आश्रय से भेदज्ञान नहीं होता, उसके आश्रय से तो राग ही होता है। निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो अंतर्मुख परिणति है, और व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में तो बहिर्मुख राग परिणति है। जो जीव ऐसा भेदज्ञान करता है, वही जीव राग के साथ की कर्ता-कर्म की अज्ञानप्रवृत्ति से छूटता है। भेदज्ञान होते ही वह अपने चैतन्यस्वभाव के साथ एकता से और रागादि के साथ भिन्नता से सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्यरूप परिणमित होता है तथा बंधन से छूटता है। इसप्रकार भेदज्ञान से ही बंधन का निरोध होता है।

✣ अब पूछते हैं कि ज्ञानमात्र से ही बंधन किसप्रकार रुकता है? उसका उत्तर आचार्यदेव ७२वीं गाथा में देते हैं:—

अशुचिपना, विपरीतता आस्त्रवों का जान के,
अरु दुःख कारण जानके इनसे निवर्तन जीव करे॥७२॥

सम्मेदशिखरजी की यात्रा के समय यह गाथा मधुवन में पढ़ी गई थी। आत्मा का चैतन्यस्वभाव पवित्र है, सुखरूप है, और रागादि आस्रव, चैतन्यरहित हैं, अशुचिरूप हैं तथा दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। इसप्रकार चैतन्यस्वभाव से आस्रवों की विपरीतता जानकर भेदज्ञानी जीव उनसे विमुख होता है। इसप्रकार भेदज्ञान से बंधन अटक जाता है।

✣ भेदज्ञान अर्थात् अंतर्मुख हुआ ज्ञान; उसका स्वभाव ही क्रोधादि से पृथक् होने का है। ज्ञान का उपयोग स्वाभावोन्मुख करके एकता करे और रागादि से भिन्नता न करे—ऐसा नहीं हो सकता; इसलिये आत्मोन्मुख भेदज्ञान को आस्रवों से निवृत्ति के साथ अविनाभावीपना है।

✣ यहाँ आचार्यदेव अलौकिक रीति से आत्मा तथा आस्रवों का स्पष्ट भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा और आस्रवों में विरुद्ध स्वभावीपना है। इसलिये उनमें एकता नहीं है परंतु भिन्नता है।

✣ देखो, जब राग से पृथक् हो, तभी राग का सच्चा ज्ञान होता है; जो राग में एकता करे, उसे राग का भी ज्ञान नहीं होता। चैतन्य है, वह राग से अन्य है; राग में चैतन्य से विपरीत स्वभावपना है; इसलिये वह चैतन्य से अन्य है और चैतन्यस्वभावी आत्मा तो स्वयं राग के अवलंबन बिना ही स्व-पर को जाननेवाला चैतक है, वह चैतन्य से अन्य है। इसप्रकार आत्मा और आस्रवों में भिन्न-स्वभावपना है—ऐसे भेदज्ञान से आत्मा का बंधन अटक जाता है।

✣ अहा, दृष्टि अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी को मुक्त कहा है। सम्यक्त्वी की दृष्टि में बंधरहित शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये दृष्टि अपेक्षा से उसे बंधन है ही नहीं। जिसप्रकार अंधकार और प्रकाश में भिन्नता है, उसीप्रकार अंधकार सदृश आस्रवों में और प्रकाश समान चैतन्य में अत्यंत भिन्नता है। जितना पराश्रित व्यवहार है, वह सब आस्रवों में जाता है, वह चैतन्यस्वभाव से भिन्न है; तथा जो स्वाश्रित निश्चय है—स्वाश्रय से उत्पन्न निर्मल पर्याय है—उसकी चैतन्यस्वभाव के साथ एकता है। ऐसे भेदज्ञान से जहाँ चैतन्य के साथ एकतारूप तथा रागादि से भिन्नतारूप परिणमन हुआ, वहाँ अब बंधन कहाँ रहेगा? बंधन तो जहाँ आस्रव हो, वहाँ होता है, परंतु जहाँ आस्रवों से छूटकर चैतन्यभाव की ओर ढला, वहाँ बंधन नहीं होता।

✣ देखो, यह भेदज्ञान करना, वह मुख्य बात है। भेदज्ञान के बिना किधर झुकना और कहाँ से विमुख होना-उसकी खबर नहीं पड़ती। जो अंतर में राग को साधन मानता है, उसका झुकाव आस्रव की ओर ही है; वह आस्रवों से छूटकर उनसे भिन्न चैतन्य को नहीं जानता।

✣ अरे जीव! ऐसे भेदज्ञान की इतनी दृढ़ता कर कि तीन काल-तीन लोक में आस्रव का

अंश भी चैतन्यस्वभावरूप भासित न हो—ऐसा दृढ़ भेदज्ञान होने पर, परिणति अंतरोन्मुख हुए बिना न रहेगी। जहाँ परिणति अंतरोन्मुख हुई, वहीं पवित्रता प्रगट हुई, स्व-पर प्रकाशकपना एवं अतीन्द्रिय सुख प्रगट हुआ, इसलिये दु:ख का कारण न रहा—यह भेदज्ञान का कार्य है।

✤ भाई, तुझे भगवान होना है? तो भगवान होने का कारण क्या राग होगा? राग तो भगवान से विरुद्ध भाव है, तो वह भगवान होने का कारण कैसे होगा? राग से पृथक् होकर चैतन्य-स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही भगवान होने का कारण है। भगवान चैतन्य तो आनंद का धाम है, उसमें से कभी दु:ख की उत्पत्ति नहीं होती। तथा राग में से तो आकुलता और दु:ख की उत्पत्ति होती है, तो वह चैतन्य का स्वभाव कैसे होगा? अंतर के वेदन से चैतन्य और राग को अत्यंत भिन्न कर दे!

पहले अज्ञानदशा थी तब—

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया...'

परंतु अब भेदज्ञान होने पर—

'अपने को आप जानके आनंदी हो गया...'

भेदज्ञान हुआ, वहाँ अज्ञान दूर हो गया, ज्ञान में प्रवर्तन कर आस्रवों से निवृत्त हो गया, दु:ख का कारण दूर हुआ और सुख का वेदन प्रगट हुआ, इन सबका काल एक ही है।

आचार्यदेव ज्ञान की महिमा से कहते हैं कि—अहो! परपरिणति को छोड़ता और भेद के कथनों को तोड़ता हुआ यह जो प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान उदित हुआ है, उस ज्ञान में अब विभाव के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश ही नहीं है; और उसे बंधन भी नहीं है। देखो, यह ज्ञान!! ज्ञान, परभावों से छूट गया... अहा, मुक्ति के पथ पर पहुँचे हुए, इस ज्ञान को बंधन कैसे होगा? मतिश्रुत क्षायोपशमिकज्ञान होने पर भी स्वसंवेदन की ओर ढले, वहाँ वे प्रत्यक्ष हैं और उस ज्ञान को बंधन नहीं है; उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं है। वह ज्ञान चैतन्य के मध्यबिन्दु से उछला है, अब उसे केवलज्ञान प्राप्त करने से कोई रोक नहीं सकता।

''चैतन्यस्वभाव सहज है,.... उसकी जड़ें गहरी हैं..... मेरुपर्वत डिग जाये किंतु वह स्वभाव नहीं डिगता। स्वभाव की जड़ें गहरी हैं। आस्रवमल=विभाव की जड़ें गहरी नहीं होतीं, उन्हें उखाड़ना चाहे तो अवश्य उखड़ सकती हैं।''

पूज्य स्वामीजी के साथ

सिद्धिधाम की यात्रा

उस मंगल तीर्थयात्रा के कुछ मधुर संस्मरण

''अनंत तीर्थंकर और संत-मुनिवर रत्नत्रयरूप तीर्थ की आराधना द्वारा संसार से पार होकर यहाँ से मोक्ष गये हैं; इसलिये यह सम्मेदशिखर मंगल तीर्थ है। देखो, यहाँ से ऊपर अनंत सिद्ध भगवंत विराजमान हैं। आत्मा का ज्ञान-आनंदस्वभाव जिन भावों से प्रगट हुआ, वे सम्यग्दर्शनादिभाव भी मंगल है। 'धवला' टीका में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं कि भविष्य में मुक्ति प्राप्त करनेवाला आत्मद्रव्य भी त्रिकाल मंगल हैं; वह अल्पकाल में होनेवाली केवलज्ञानादि मंगलपर्यायों के साथ संबंधित है; तथा जिस काल में आत्मा ने मुक्ति प्राप्त की या मुक्ति का मार्ग प्राप्त किया, वह काल भी मंगल है। जिसने आत्मा के ज्ञानानंदस्वभाव की प्रतीति करके अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप मंगल प्रगट किया, वह जीव भगवान को भी अपने मंगल का कारण कहता है और भगवान जहाँ से मोक्ष पधारे, ऐसे इस सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थधाम को भी वह मंगल कहता है। ऐसी निर्वाणभूमि देखकर उसे मोक्षतत्त्व का स्मरण होता है; इसलिये मोक्षतत्त्व की प्रतीति में और स्मरण में यह भूमि निमित्त है, इसलिये यह भूमि भी मंगलरूप तीर्थ है। उसकी यात्रा के लिये यहाँ आये हैं। इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव सर्व प्रकार से मांगलिक किया।''

तीर्थधाम में ऐसा उल्लासपूर्ण मांगलिक सुनकर सबको अति आनंद हुआ था। गुरुदेव के पधारने से उस तीर्थधाम का सारा वातावरण अत्यंत उमंग भरा और प्रफुल्लित लग रहा था। इष्ट धाम में आने से सबको संतोष था। धर्मपिता के धाम में धर्मात्माओं को आनंद से विचरता देखकर जिज्ञासु भक्तों के हृदय उल्लसित हो रहे थे। यहाँ यात्रा संघ में यात्रियों की संख्या १५०० के करीब हो गई थी तथा अन्य यात्री भी लगभग दो हजार थे। गुरुदेव के साथ इस शाश्वत सिद्धिधाम से भेंट करने के लिये सबके हृदय आतुर हो रहे थे कि सिद्धिधाम का वैभव देखें। सिद्धक्षेत्र में पग-पग पर सिद्धों का तथा साधक संतों का स्मरण हो रहा था। सिद्ध का स्मरण संसार को भुला देता है, उसीप्रकार सिद्धिधाम में पहुँचे हुए यात्री संसार के वातावरण को भूल गये थे। जिसप्रकार सिद्धपद प्राप्त करने से पूर्व भी साधक को उसका आनंद होता है। उसीप्रकार सिद्धिधाम की की यात्रा करने से पूर्व भी उसकी छाया में यात्रियों को यात्रा समान आनंद हो रहा था। वास्तव में यात्रा का प्रारम्भ

पर्वत पर चढ़ाई से नहीं, किंतु संकल्पसहित घर से निकलने पर ही हो जाता है। और जब पर्वत पर पहुँच जाते हैं, तब उस संकल्प का फल प्राप्त होता है—उसीप्रकार जैसे यथार्थ निर्णय का फल अनुभव में आता है।

अहा! सिद्धिधाम से भेंटने की स्वामीजी की भावना आज पूर्ण हो रही है। गुरुदेव के साथ सम्मेदशिखर शाश्वत सिद्धिधाम की यात्रा करने की हजारों यात्रियों की भावना आज उल्लासपूर्वक पूर्ण होती है। मंगलतीर्थ यात्रा का वह पावन अवसर जीवन में सदा सिद्धिपंथ की पुनीत प्रेरणा प्रदान करता रहे।

सैंकड़ों-हजारों जय-जयकार सहित एवं णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुए आनंदमय वातावरण में गुरुदेव ने सिद्धिधाम की यात्रा का मंगल प्रारम्भ किया। सिद्धिधाम की ओर डग बढ़ाते ही अपूर्व आह्लाद जागृत होता है... रोम रोम में कोई नवीन झनझनाहट व्याप्त हो जाती है। जिसप्रकार नया सम्यक्त्वी चैत्न्य की भेंट से आनंदित होता है। उसीप्रकार गुरुदेव उस तीर्थ से भेंट करके आनंदित हो उठे। गुरुदेव के पद-पद पर चलते हुए यात्री भी हर्ष विभोर हो रहे थे। पर्वत की चढ़ाई प्रारंभ होते ही मानों पराक्रम के किसी नूतन युग का प्रारम्भ हुआ था। सिद्धों और साधकों का स्मरण हो रहा था, पंचपरमेष्ठी को नमन कर रहे थे, रत्नत्रय की भावनाऐं जागृत हो रही थीं। ऐसी भावनासहित गुरुदेव के साथ सिद्धों को हृदय में स्थापित करके सिद्धिधाम की ओर प्रयाण किया। अहो सिद्धभगवंत! अपने गुरुदेव के साथ आपके पवित्र धाम में हमने प्रस्थान किया है, पद-पद पर प्रभुजी का स्मरण हो रहा है और हृदय में ऐसी झनझनाहट जागृत हो रही है, मानों सिद्धभगवान को देखकर प्रदेश प्रदेश से कर्म खिर रहे हों! जीवन का वह पवित्र अवसर मुमुक्षुओं के हृदय में अंकित हो गया है।

जिसप्रकार मोक्षमार्ग के पथिक को पर्याय-पर्याय में नूतन आनंद का स्फुरण होता है; उसीप्रकार सिद्धिधाम के यात्रियों को पद-पद पर नवीन हर्ष की ऊर्मियां जागृत होती थीं। ज्यों-ज्यों शाश्वत् तीर्थधाम आरोहण हो रहा था, त्यों-त्यों गुरुदेव सबके हृदयों को आनंदित कर रहे थे। कुछ दूर चलने पर घनी वनराजि का प्रारम्भ होता है। सारा सम्मेदशिखर पर्वत अत्यंत घनी वनराजि से आच्छादित है। अहा, मुनिराजों ने जिसमें रहकर आत्मसाधना की उस वनराजि की शोभा अद्भुत है! सुंदर पेड़-पौधों तथा पुष्पों से भरा हुआ वह वन मानों आज भी मुनिदर्शन की प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हो, ऐसा प्रफुल्लित लगता है। उस वनपथ पर चलते हुए हृदय में वनवासी संत-

मुनियों का दृश्य उपस्थित होता है तथा मुमुक्षु हृदयों में उस दशा की भावना जागृत होती है। जिसप्रकार सुप्रभात में कमल विकसित हो जाते हैं; उसीप्रकार उस वन में ज्ञानियों के हृदय-कमल संयम भावना से खिल उठते हैं। तीर्थंकर-मुनिवरों के प्रताप से सम्मेदशिखर पर्वत तो शोभित और पूजित है, परंतु वहाँ का एक-एक वृक्ष तथा उसके पुष्प और पत्र भी कैसे सुंदर शोभायमान हैं। और वहाँ विचरनेवाले संतों के हृदय में खिली हुई रत्नत्रयपरिणति की तो बात ही क्या! अहो, सघन वन में गुप्तरूप से रत्नत्रय के अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेनेवाले वे संत!

अहा, यात्रा संघ में उनके भावों की क्या बात कहें! अपूर्वभाव से सिद्धिधाम को निहार रहे हैं और यात्रियों की उल्लासभरी भक्ति की उमंग देखकर प्रसन्न हो रहे हैं। बारंबार कहते हैं कि अपनी तो यह पहली यात्रा है... सिद्धिधाम और सिद्ध पदसाधक संतों का यह मिलन कोई अद्‌भुत प्रेरणा प्रदान करता है। जिसप्रकार सिद्धस्वरूप के साक्षात्कार से साधक परम आनंदित होता है, उसीप्रकार यहाँ सिद्धिधाम के साक्षात्कार से साधकों का हृदय परम आह्लादित होता है।

जिसप्रकार जीवन के किसी विरल क्षण में हुआ चैतन्यवेदन धर्मात्मा को जीवन में कभी भूलता नहीं है, और जब-जब उसका स्मरण करता है, तब-तब प्रमुदित हो उठता है, उसीप्रकार जीवन में प्राप्त यह अपूर्व मंगल यात्रा का प्रसंग कभी भुलाया नहीं जा सकेगा और जब-जब उसका स्मरण होगा, तब-तब मुमुक्षु प्रमुदित हो उठेंगे।

वहाँ दुनियाँ दिखाई नहीं देती, संसार की याद नहीं आती; बस, हृदय में एक सिद्धभगवान ही विराजते हैं... कब प्रभुजी से भेंट हो! कब सिद्ध बनें। संतों की आराधना के इस धाम में आराधक संतों के साथ विचरते हुए आराधना की भावनाओं का सेवन होता है... आराधना के हेतु जीवन व्यतीत हो, वही सच्चा जीवन है।

ज्ञानियों के साथ तीर्थयात्रा की बलिहारी है। एक तो ज्ञानी का आत्मा स्वयं तीर्थ है और फिर वह तो उनके साथ भारत के सर्वोत्कृष्ट तीर्थधाम की यात्रा हो रही थी! ऐसी मंगल तीर्थयात्रा के आनंद की क्या बात!

'सम्मेदशिखर!' जिसके दर्शन करते हुए अनंत सिद्धभगवंतों का स्मरण होता है... और सिद्धपद के साधक तीर्थंकरों तथा संतों का समूह स्मृति समक्ष तैरता हुआ हममें मोक्षमार्ग की प्रेरणा जागृत करता है... ऐसे उस सिद्धिधाम की यात्रा मुमुक्षु जीवन का एक आनंदावसर है। रत्नत्रयतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर तथा उसकी साधना करनेवाले संत इस भूमि में विचरे हैं; उन तीर्थस्वरूप संतों

के पवित्र चरणों के प्रताप से इस भूमिका कण-कण पावन तीर्थरूप में जगत्पूज्य बना है। ऐसी भारत की उस शाश्वत तीर्थ भूमि की मंगल यात्रा करने के लिये तड़पते हुए भक्तों के हृदय आज तृप्त हो रहे थे।

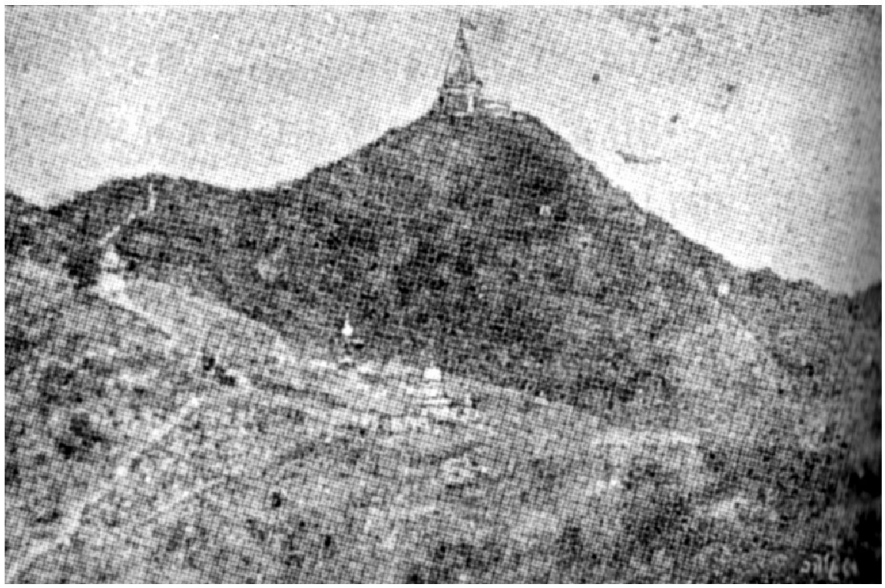

यात्री उत्साहपूर्वक पर्वत पर चढ़ रहे हैं... जिसप्रकार अपने परम इष्ट परम प्रिय ऐसे सिद्धपद की साधना करते हुए साधक को थकान नहीं लगती, उल्टा आनंद ही होता है, उसीप्रकार सिद्धिधाम की ओर जाने के लिये पर्वत पर चढ़ते हुए यात्रियों को थकान नहीं लगती थी परंतु उल्टा उत्साह बढ़ता था। करीब साढ़े पाँच बजे प्रातः कुछ प्रकाश हुआ। अभी पहली टूंक आने में थोड़ी देर थी, इतने में दूर-दूर पहली टूंक के दर्शन हुए। उसे देखते ही गुरुदेव बोले—देखो, वह टूंक दिख रही है! टूंक के दर्शन करके यात्री भी हर्षोल्लास में आ गये थे। जिसप्रकार चन्द्र को देखकर समुद्र उछलता है; उसीप्रकार टूंक को देखकर भक्तों के हृदय में हर्ष का सागर उमड़ने लगा। दूर-दूर से दृष्टिगोचर होनेवाली वह सबसे ऊँची 'सुवर्णभद्र' टूंक थी। पारसनाथ की उस सर्वोच्च टूंक के दर्शन होते ही सबने झुक-झुककर सारे शिखर सम्मेद तीर्थ को भक्तिभाव से वंदन किया और जयघोषपूर्वक पहली टूंक पर पहुँचने के लिये जल्दी-जल्दी पांव बढ़ाये। जिसप्रकार दर्शन सहित पुरुषार्थ में कोई भिन्न शक्ति होती है, उसीप्रकार टूंक के दर्शन होने पर यात्रियों की चढ़ाई में कुछ और ही तेजी आ गयी... और कुछ ही देर में पहली टूंक पर पहुँच गये।

धर्मात्मा की अनुभूति

[समयसार, गाथा ३६ के प्रवचन से]

धर्मात्मा को चिदानंदस्वभाव की अधिकता द्वारा परभावों से भिन्न शुद्ध आत्मा की जो अनुभूति हुई है, वह कैसी है ?—मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है, एक उपयोग ही मेरा स्वरूप है, उसके अतिरिक्त मोह के साथ मुझे कोई लेन-देन नहीं है; अंतर्मुख हुई पर्याय में जो अनुभूति हुई, वह मोह रहित है। मोह तो जड़ की ओर का भाव है, वह चैतन्यस्वभाव की ओर का भाव नहीं है; इसलिये चैतन्य की अनुभूति में मोह के साथ कोई संबंध नहीं है। ज्ञान का व्यापार स्वोन्मुख हुआ वहाँ आत्मा का अनुभव ज्ञायकस्वभाव भावरूप ही होता है, उसमें मोह का अनुभव नहीं होता। अस्थिरता का जो मोहभाव हो, उसका ज्ञानी अपने स्वभावरूप से अनुभव नहीं करते, अपने स्वभाव का ही चैतन्यभावरूप से अनुभव करते हैं। चैतन्यस्वभाव कभी परभावरूप से अनुभव में नहीं आता। चैतन्यभाव तथा मोहभाव को पृथक्-पृथक् करके ज्ञानी चैतन्यभावरूप ही अपना अनुभव करते हैं। इसप्रकार चैतन्यस्वभाव की शाश्वत प्रताप सम्प्रदा द्वारा भगवान आत्मा (—जिसे भेदज्ञान हुआ है, उस जीव को यहाँ भगवान आत्मा कहा है) ही जानता है कि परमार्थतः मैं एक चैतन्यभावमय ही हूँ; अन्य जो रागादिभाव हैं, वह मैं नहीं हूँ; वे भाव मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा चैतन्यस्वभाव ऐसा नहीं है कि मोहरूप से परिणमित हो।

मोह में ऐसी शक्ति नहीं है कि स्व-पर को प्रकाशित कर सके, विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसी संपत्ति तो चैतन्य में ही है; भगवान आत्मा ही अपनी शाश्वत् चैतन्य सम्पदा के प्रताप द्वारा समस्त विश्व को जानने के लिये शक्तिवान है। चैतन्यशक्ति का प्रताप सदैव विकासरूप है; मोह तो चैतन्य के विकास को रोकनेवाला है। चैतन्य का विकास शांत-अनाकुल है तथा मोह का विलास तो आकुलता एवं दुःखमय है। चैतन्य का और मोह का स्वाद भिन्न है। जिस प्रकार श्रीखंड में दही और शक्कर का स्वाद भिन्न-भिन्न है; उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव के तथा मोह भाव के स्वाद में भिन्नता है; इसप्रकार स्वाद के भेद से भेदज्ञान करके धर्मी जीव मोह को किंचित् अपनेरूप अनुभव नहीं करता—एक चैतन्यभाव का ही अपने रूप से अनुभव करता है। इसप्रकार

की अनुभूति से धर्मात्मा को भेदज्ञान हुआ, तब परभावों को पररूप जानकर उसे छोड़ दिया तथा मात्र ज्ञायकभाव को ही स्व-रूप जानकर उसमें तन्मयता की। ऐसी अनुभूति, सो धर्म है, वह मोक्ष का मार्ग है।

जो शांत अनाकुल चैतन्य रसरूप से स्वाद में आये, वही आत्मा है, वही धर्मात्मा का स्व है, वही ज्ञानी की अनुभूति का विषय है; तथा जो आकुलतारूप से, विकाररूप से स्वाद में आये, वह आत्मा नहीं है, वह धर्मात्मा का 'स्व' नहीं है, वह ज्ञानी की अनुभूति से बाहर रह जाता है। देखो, यह भेदज्ञान! अनुभव द्वारा परभावों से ऐसा भेदज्ञान हो, तब धर्म का प्रारम्भ होता है।

धर्मात्मा अपने अनुभव में ऐसा जानता है कि मैं सदैव अपने चैतन्य रस से भरपूर एक हूँ, परद्रव्य या परभाव मेरे नहीं हैं, नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्य का सागर हूँ—

कहै विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ,
अपने रस से भर्यो अनादि टेक हूँ।
मोह करम मम नांही, नांहीं भ्रम कूप है,
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है॥

अहा, में तो चैतन्य रस से भरपूर ऐसा चैतन्यसागर हूँ; मुझमें मोह के कूप का अभाव है—ऐसा विचक्षण धर्मात्मा अनुभव करते हैं।

अहा, यह तो उस वस्तु की प्राप्ति का अवसर है! भाई, बाह्य के वाद-विवाद को छोड़कर अंतर में उछलते हुए चैतन्य सागर—आनंद समुद्र का अनुभव कर। श्री पद्मनन्दिस्वामी 'करुणा अष्टक' में प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे वीतरागी परमात्मा! आपके स्वरूप को पहिचाने बिना, तथा आपके कहे हुए तत्त्व स्वरूप को जाने बिना मैंने अनंत काल तक इस संसार में परिभ्रमण किया और अनंत दु:ख सहे हैं। हे नाथ! अब मैं आपकी शरण में बार-बार पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि अब मुझे एक आपकी ही शरण रहे, ...केवलज्ञान एवं वीतरागतामय जो शुद्ध चैतन्यपिण्ड उस एक की ही शरण रहे.... जिससे यह संसार भ्रमण दूर हो। भगवान की शरण रहे अर्थात् परमार्थ से वीतरागभाव की ही शरण रहे—ऐसा तात्पर्य है।

एकबार समस्त संसार को लक्ष में से छोड़कर अंतर में अत्यंत धैर्य तथा अति प्रयत्न द्वारा अध्यात्म की यह बात समझना चाहिये। इस मनुष्य भव में यह अनुभव का अवसर आया है; इसमें यदि चूक गया तो क्षण भर में यह महान अवसर चला जायेगा। अरे, चैतन्य के अनुभव बिना संसार

की चार गतियों में कैसे-कैसे अवतार कर चुका है ! **उनसे छूटने का यह अवसर है। चैतन्य सागर का अंतर में अनुभव करने से क्षण भर में अनंत-संसार टूट जायेगा। एक बार अंतर में दृढ़ रुचि का ऐसा घर हो जाना चाहिये कि वह कभी बदल न सके... चैतन्य का पता लगाकर ही छोड़े।**

प्रभु ! एकबार चैतन्य की इस बात को अंतर में बैठा तो सही ! अनंत काल से परभावों को बैठाया है, उनकी गोष्ठी छोड़ और चैतन्य की रुचि करके उसके साथ गोष्ठी कर... जिसे चैतन्यतत्त्व की रुचि हुई, उसे परभाव कैसे अच्छे लगेंगे ? वास्तव में जिसे चैतन्यतत्त्व की रुचि हुई, वह अंतर में उतरकर उसका अनुभव किये बिना नहीं रहता। ऐसे चैतन्य का जिसने अनुभव किया, वे धर्मात्मा परमार्थतः विचक्षण हैं। वे परभावों से भेदज्ञान करने में कुशल हैं। वे भेदज्ञान की विचक्षणता द्वारा समस्त परभावों को अपने से पृथक् करके शुद्ध चैतन्यरस के पिण्डरूप अपना अनुभव करते हैं। मेरा आत्मा चैतन्य का सागर है, उस सागर में विकार नहीं किंतु उसमें आनंदादि अनंत गुण भरे हैं।

धर्मात्मा आठों कर्मों को अपने से अत्यंत भिन्न जानता है और अपने को चैतन्य सिंधु मानता है। मैं चैतन्य का सागर हूँ, मुझमें जड़कर्म का एक अंश भी नहीं है। मैं चैतन्य से परिपूर्ण हूँ, जड़कर्म के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। आत्मा चैतन्यरस से भरपूर महोदधि-विशाल समुद्र है; उसमें कर्म-नोकर्म या भावकर्म किंचित् नहीं है। ऐसे स्वानुभव से धर्मी को जो निर्मल अनुभूति प्रगट हुई, उस अनुभूति पर्याय में भी मोहादि का अभाव है। इसप्रकार धर्मात्मा निर्मोह हैं। 'नहिं मोह वह मेरा कोई उपयोग केवल एक हूँ'—ऐसा वे पर्याय में अनुभव करते हैं... यह धर्मात्मा की अनुभूति है। मेरी अनुभूति का मोह के साथ, राग के साथ, शरीर के साथ, कर्म के साथ, मन के साथ या वचनादि के साथ कोई संबंध नहीं है; मेरी अनुभूति तो मेरे शुद्ध चैतन्य उपयोगमय ही है।—ऐसा धर्मात्मा अनुभव करते हैं। ऐसे अनुभव से उन्होंने मोह को मार डाला है। विपरीत मान्यतावाला मोह से चैतन्यपर्याय का घात करता है और ज्ञानी धर्मात्मा चैतन्य के अनुभव द्वारा अपनी पर्याय में से मोह को नष्ट कर देता है।—ऐसी अनुभूति सहित जिसने आत्मा को जाना उसी ने वास्तव में आत्मज्ञान किया है।

हिंसा-अहिंसा के लक्षण अर्थात् स्वरूप

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढ़ो वा जंपउ जईप ओ अं।
हिंसा वितत्थ जाय ई तम्हासोहिंस ओ होई॥४१॥

जय धवल, भाग १, पुस्तक १, पृष्ठ १०२, गाथा ४१

रागादीण मणुप्पा अहिंसकत्तंत्ति देसियंसमए।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिष्ठा॥४२॥

(मूलाराधना वि०टी० ८०२)

अर्थ—राग-द्वेषी अथवा मोही पुरुष जो भी क्रिया करता है, उमसें हिंसा अवश्य होती है। और इसीलिये वह पुरुष हिंसक होता है। तात्पर्य यह है कि रागादि भाव ही हिंसा के प्रयोजक हैं, उनके बिना केवल हिंसा मात्र से हिंसा नहीं होती॥४१॥

रागादिक का नहीं उत्पन्न होना ही अहिंसकता है, ऐसा जिनागम में उपदेश दिया है। तथा उन्हीं रागादिक की उत्पत्ति ही हिंसा है, ऐसा जिनदेव ने निर्देश किया है॥४२॥

अत्ताचेय अहिंसा, गाथा ४३

समय अर्थात् जिनागम में ऐसा निश्चय किया गया है कि आत्मा ही अहिंसा है, और आत्मा ही हिंसा है। उनमें जो प्रमादरहित आत्मा है, वह अहिंसक है तथा जो इतर अर्थात् प्रमाद सहित है, वह हिंसक है॥४३॥

अज्झव सिण्ण बंधो, सत्ते मारेज्ज माव मारेज्ज।
एसो बंध समासो जीवाणं, णिच्छय णयस्स॥४५॥

सत्त्व अर्थात् जीवों को मारो या न मारो, बंध में जीवों को मारना या नहीं - मारना प्रयोजक नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय से अर्थात् रागादिरूप परिणामों से जीवों के बंध होता है।

निश्चयनय की अपेक्षा यह बंध का सारभूत कथन समझना चाहिये॥४५॥

मरदु व जियदु व जीवो अपदा चारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसा मेत्तेण समिदिसु॥४५॥

जीव मरो या मत मरो तो भी यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती ही है। किंतु जो पुरुष समितियों में प्रयत्नशील है अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसके हिंसा मात्र से अर्थात् प्रवृत्ति करते हुये किसी जीव की हिंसा हो जाने मात्र से बंध नहीं होता है॥४५॥

उच्चालि दम्मि पाए.... ॥४६॥ ण हितग्धाद ॥४७॥

ईर्यासमिति से युक्त साधु के अपने पैर के उठाने पर उनके चलने के स्थान में यदि कोई क्षुद्र प्राणी उनके पैर से दब जाये और उनके निमित्त से मर जाये तो उस क्षुद्र प्राणी के घात के निमित्त से थोड़ा सा भी बंध आगम में नहीं कहा है। क्योंकि जैसे अध्यात्म दृष्टि से मूर्च्छा अर्थात् ममत्व परिणाम को ही परिग्रह कहा है, वैसे यहाँ भी रागादि परिणाम को ही हिंसा कहा है ॥४६-४७॥

णय हिंसा मेत्तेणय..... ॥४८॥

णाणी कम्मस्स..... ॥४९॥

वत्थु पडुच्च तं पुण..... ॥५१॥

पुण्णाम्मा सव भूदा अण कंपा..... ॥५२॥

जीव केवल हिंसा मात्र से हिंसक नहीं होता किंतु सावद्य अर्थात् राग-द्वेष रूप परिणामों से ही हिंसक होता है। अतः राग-द्वेषादि से रहित शुद्ध परिणाम वाले जीव के जो कर्मों का आस्रव होता है, वह फल रहित है, ऐसा जीवन बने कहा है ॥४८॥

ज्ञानी कर्म के क्षय के लिये प्रस्तुत रहता है, हिंसा के लिये नहीं। और वह प्रमाद रहित होता हुआ सरल भाव से अहिंसा के लिये प्रयत्न करता है। इसलिये वह अबंधक है अर्थात् अहिंसक है ॥४९॥

यद्यपि वस्तु की अपेक्षा करके अध्यवसाय अर्थात् आत्म परिणाम होता है, ऐसा व्यवहार प्रतिपादन करता है परंतु केवल वस्तु के निमित्त से बंध नहीं होता है, बंध तो आत्मपरिणामों के संबंध से होता है ॥५१॥

अनुकंपा, शुद्धयोग, और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रव स्वरूप या पुण्यास्रव के कारण हैं। तथा इनसे विपरीत अर्थात् अदया, अशुभयोग और अशुभ उपयोग ये पापास्रव के कारण हैं। इसप्रकार आस्रव के हेतु समझना चाहिये ॥५२॥

अनुभव के अभ्यास की प्रेरणा

शरीर से तथा कर्म से भिन्न चैतन्यस्वरूपी आत्मा क्या वस्तु है, उसकी जिन्हें खबर नहीं है, ऐसे अज्ञानी आत्मा का स्वरूप अन्य प्रकार से मानते हैं। ऐसे जीवों को कोमलता से समझाते हैं कि—

अरे जीवों! यह चैतन्यतत्त्व अंतर में स्वसंवेदन द्वारा ज्ञानियों को अनुभव गम्य है; युक्ति से तथा आगम से भी वह सिद्ध होता है। हे भव्य! हे आत्मा के शोधक! अन्य व्यर्थ के कोलाहल से तू विरक्त हो.. और अंतर में ज्ञानस्वरूपी आत्मा शरीर से भिन्न है, उसका अनुभव करने के लिये लगातार छह महीने तक प्रयत्न कर... अंतर में भेदज्ञान का अभ्यास कर। निश्चलरूप से, लगन-पूर्वक अंतर में अभ्यास कर।—ऐसा करने से तुझे अपने अंतर में ही भिन्न चैतन्यतत्त्व का अनुभव होगा। अरे जीव! तू निश्चयरूप से अभ्यास कर तो छह महीने में अवश्य तुझे आत्मप्राप्ति होगी। छह महीने तक आत्मा की धुन में लगा रहे और उसमें भंग न पड़ने दे तो निर्मल अनुभूति हुए बिना न रहे। एक शर्त है कि अन्य सब कोलाहल छोड़कर प्रयत्न करना चाहिये। अरे, मेरा चैतन्यतत्त्व क्या है? इसप्रकार अंतर में कुतूहल करके, उसके सन्मुख होकर अभ्यास कर। छह महीने का तो अधिक से अधिक समय दिया है, किसी को इससे कम समय में भी आत्म प्राप्ति हो जाती है। उसके परिणाम में ऐसा तीव्र रस है कि आत्मानुभव के अभ्यास की धारा को नहीं तोड़ा। शरीर का, परिवार का क्या होगा?—ऐसे विकल्प के कोलाहल को छोड़ और चैतन्यस्वभाव की महिमा का मंथन कर। छह महीने तक अंतर्मुख होने का प्रयत्न कर और बहिर्मुख होने की चिन्ता छोड़। तू बाह्य की चिंता करेगा, तब भी वहाँ तो जो जैसा होना है, वह होगा; और यदि तू चिन्ता नहीं करेगा, तब भी कुछ रुक जानेवाला नहीं है; इसलिये तू बाह्य की चिन्ता छोड़कर एक बार तो सततरूप से अपने आत्मा के प्रयत्न में लग जा... छह महीने तक तो अपने उपयोग को चैतन्यचिन्तन में लगा। ऐसे धारावाही प्रयत्न से अवश्य तुझे आनंदसहित अपने अंतर में आत्मा का अनुभव होगा।

अहा, देखो तो! आचार्यदेव ने कैसी कोमलता से समझाया है; आत्मा के अनुभव की कैसी प्रेरणा दी है! भाई! तेरी वस्तु तेरे अंतर में है, उसके सन्मुख प्रयत्न करने से वह प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगी।

बाह्य में अनंत काल तक प्रयास करने पर भी कुछ हाथ नहीं आया; एक रजकण भी उसका

अपना नहीं हुआ, तथापि उसी में लगा रहता है, वह तो महान मूर्खता है। यदि अंतर में चैतन्य की प्राप्ति का प्रयत्न करे तो अंतर्मुहूर्त में उसकी प्राप्ति हो और सादि अनंत काल का सुख प्राप्त हो जाये। स्वरूप के अभ्यास द्वारा स्वरूप की प्राप्ति अवश्य होती है। पर की प्राप्ति तो नहीं होती, परंतु अपनी वस्तु तो अपने में विद्यमान है, यदि चेतकर-जागृत होकर देखे तो अपना स्वरूप अपने वेदन में आता है। अपना स्वरूप कहीं अपने से दूर नहीं है, अंतर्मुख होने पर स्वयं ही ज्ञान-आनंद स्वरूप है—ऐसा अनुभव में आता है। उत्कृष्ट प्रयत्न करे तो एक अंतर्मुहर्त में ही अज्ञान का पर्दा दूर होकर स्वस्वरूप का अनुभव होता है। परंतु शिष्य को अधिक कठिन मालूम होता हो तो उसे अधिक से अधिक छह महीने का समय बतलाया है। निष्प्रयोजन कोलाहल छोड़कर स्वरूप के प्रयत्न में लगने से तत्काल उसकी प्राप्ति होती है। प्राप्त करनेवालों ने अंतर्मुहूर्त में प्राप्त किया है; अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान भी होता है, तो फिर सम्यग्दर्शन तो सुगम है; परंतु उसके लिये अंतर से प्रयत्न होना चाहिये। दृष्टि के आलस्यवश स्वयं अपने स्वरूप को नहीं देखता, परंतु है तो अंतर में ही। इसलिये हे भव्य जीव! अन्य सब कोलाहल छोड़कर एक चिदानंदतत्त्व की प्राप्ति के प्रयत्न में अपने उपयोग को लगा, ताकि तुरंत ही तुझे अपने आत्मा का अनुभव होगा। इसप्रकार संतों ने करुणापूर्वक अनुभव के अभ्यास की प्रेरणा दी है।

ज्ञानी की अद्भुत दशा

—सम्यक्त्वी धर्मात्मा जानते हैं कि—हमारे चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद के निकट सारे जगत का वैभव तुच्छ है.. चैतन्य का रस अत्यंत मधुर.. अत्यंत मधुर शां...त... अत्यंत निर्विकार... उसके संवेदन से ऐसी तृप्ति होती है कि समस्त जगत का रस उड़ जाता है। साधक हृदय के गंभीर भावों को जानना साधारण जीवों को कठिन होता है।

अज्ञान से ही विकार का कर्तृत्व है और ज्ञान से उस कर्तृत्व का नाश होता है—ऐसा जो जीव जानता है, वह समस्त परभाव का कर्तृत्व छोड़कर ज्ञानमय होता है। निश्चय को जाननेवाले ज्ञानियों ने ऐसा कहा है कि—आत्मा अज्ञान से ही विभाव का कर्ता होता है। जहाँ भिन्न चैतन्य -स्वभाव की प्रतीति हुई, वहाँ अपने शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आत्म-विकल्प नहीं होता। इसलिये वे ज्ञानी समस्त परभाव को अपने स्वभाव से भिन्न जानते हुए उनका कर्तृत्व छोड़ देते हैं।

देखो, यह ज्ञानी का कार्य! ज्ञानी हुआ, वह आत्मा अपने चैतन्य के भिन्न स्वाद को जानता है। जहाँ चैतन्य के अत्यंत मधुर शांतरस का स्वाद जाना, वहाँ कटु स्वादवाले कषायों में आत्मबुद्धि कैसे होगी? रागादिभाव मेरे स्वभाव से उत्पन्न हुए हैं—ऐसा ज्ञानी को किंचित् भासित नहीं होता। शुद्ध ज्ञानमय स्वभाव के आधार से उसको निर्मल ज्ञानभावों की ही उत्पत्ति होती है तथा उन्हीं का वह कर्ता होता है। विकल्प की उत्पत्ति ही जब मेरे ज्ञान में नहीं है तो फिर उस विकल्प द्वारा ज्ञान की पुष्टि हो—यह बात ही कहाँ रही? इसलिये ज्ञान से भिन्न समस्त विकल्पों का कर्तृत्व छूट गया है।

यह आत्मा अनादि से अज्ञानदशा में वर्त रहा है, उसे अपने स्वभाव के स्वाद का तथा विकार के स्वाद का भेदज्ञान नहीं है; इसलिये दोनों को एकमेकरूप अनुभव करता है... शरीर से भिन्नता की बात तो स्थूल में चली जाती है, यहाँ तो अंतर के अरूपी विकल्पों से भी चैतन्य की भिन्नता बतलाना है। अज्ञानी को भेदज्ञान की शक्ति मुँद गई है; भेदज्ञान करने की शक्ति तो प्रत्येक आत्मा में है परंतु अज्ञानी वह शक्ति प्रगट नहीं करता, उसकी वह शक्ति अनादि से मुँद गई है। ऐसे अज्ञान के कारण ही वह अपने को तथा पर को एकमेक मानता है, ज्ञान का और राग का एकमेक अनुभव करता है। 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा स्वानुभव करने के बदले 'मैं क्रोध हूँ, मैं राग हूँ'—शुभराग भला है, कर्तव्य है—ऐसा वह अज्ञानभाव का अनुभव करता है। अहो, दिव्यध्वनि तो चैतन्य के

एकत्वस्वभाव का ढिंढ़ोरा पीटती है। गणधर, संत और चारों अनुयोग के शास्त्र भेदज्ञान का ढ़िंढोरा पीटकर कहते हैं कि—चैतन्यस्वभाव तो अनादि-अनंत, अकृत्रिम, निर्मल विज्ञानघन है और रागादिभाव क्षणिक, नवीन, पराश्रय से उत्पन्न हुए मलिनभाव हैं, उनमें एकता कैसे हो सकती है ?—नहीं हो सकती। परंतु अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव से भ्रष्ट होकर बारंबार अनेक विकल्परूप से तद्रूप परिणमित होता हुआ उनका कर्ता प्रतिभासित होता है।

यहाँ तो वह कर्तृत्व छूटने की बात समझाना है। 'रागादि का कर्तृत्व अज्ञान से ही है'—ऐसा जो जीव जानता है, वह रागादि के कर्तृत्व को अत्यंतरूप से छोड़ देता है। मेरे चैतन्यस्वभाव में राग का कर्तृत्व है ही नहीं, राग की खान मेरे चैतन्य में नहीं है; मेरी चैतन्यखान में तो निर्विकल्प अनाकुल शांतरस भरा है। शांतरस का स्वाद ही मेरा स्वाद है; जो आकुलता है, वह मेरा स्वाद नहीं है, वह तो राग का स्वाद है—इसप्रकार दोनों के स्वाद को अत्यंत भिन्न जानता हुआ ज्ञानी चैतन्य का और राग का एक स्वादरूप अनुभव नहीं करता, परंतु चैतन्य के स्वाद का राग से पृथक ही अनुभव करता है। चैतन्य-आनन्द के निधान को पहले अज्ञान के कारण ताले लगा रखे थे, उन तालों को भेदज्ञानरूपी कुंजी द्वारा खोल डाला; चैतन्य के आनंदनिधान को खोलकर उसका स्वसंवेदन किया। ज्यों ही अपने निजरस को जाना, वहाँ विकार का रस छूट गया, उसका कर्तृत्व छूट गया। पहले निरंतर विकार का स्वाद लेता था, उसके बदले अब निरंतर स्वभाव के आनंद का स्वाद लेता है।

देखो, यह चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा की दशा! जो साधक हुआ, जो मोक्ष के मार्ग पर पहुँचा, अंतर में जिसकी चैतन्य से भेंट हुई—ऐसे धर्मात्मा ज्ञानी मुनि श्रुतज्ञान से चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का स्वसंवेदन करते हैं। अहा, जगत के रस से भिन्न प्रकार का चैतन्यरस है। इन्द्रपद के वैभव में भी वह रस नहीं है। सम्यक्त्वी इन्द्र जानते हैं कि हमार चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद के निकट यह इन्द्रपद तो क्या! सारे जगत का वैभव भी तुच्छ है। चैतन्य का रस अत्यंत मधुर अत्यंत शां... त! अत्यंत निर्विकार.... जिसके संवेदन से ऐसी तृप्ति होती है कि सारे जगत का रस ही उड़ जाता है। शां....त.... शांत चैतन्य का मधुर वेदन हुआ, वहाँ आकुलताजनक ऐसे कषायों का कर्तृत्व कैसे रहेगा ? कषायों से अत्यंत भिन्नता की प्रतीति हुई है। देखो, स्वोन्मुख होकर ऐसे स्वाद का स्वसंवेदन करने की मति-श्रुतज्ञान की शक्ति है। मति-श्रुत को स्वसन्मुख करके धर्मात्मा ऐसे चैतन्य स्वाद का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करता है।

अहा, देखो तो... आचार्यदेव ने कैसे शांतभाव भरे हैं! अमृत के सागर कैसे उछलते

हैं—वह बात अमृतचंद्राचार्यदेव ने इस समयसार में समझाई है। साधक की अंतरंग स्थिति क्या है, उसकी जगत के जीवों को खबर नहीं है, उसके हृदय के गंभीर भावों को साधारण जीव आसानी से नहीं समझ सकते। समझना चाहें तो सब सुगम है। इन भावों को समझे तो अमृत के सागर उछलें और विष का स्वाद छूट जायें। भेदज्ञान की यह महिमा है। भेदज्ञान होते ही जीव की ऐसी दशा होती है। ज्ञानी-धर्मात्मा चैतन्यरस के स्वाद के समक्ष जगत के समस्त स्वादों के प्रति उदासीन दशावान हुआ है। रागादि को भी अत्यंत उदासीनदशावान रहकर मात्र जानता ही है परंतु उनका कर्ता नहीं होता।—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव का ही स्व-रूप से अनुभव करनेवाला ज्ञानी निर्विकल्प अकृत्रिम एक विज्ञानघनरूप से परिणमित होता हुआ अन्य भावों का अत्यंत अकर्ता ही है। ऐसी अद्भुतदशा से साधक पहिचाना जाता है।

[समयसार, गाथा ९७ के प्रवचन से]

सर्व अरिहंत भगवंतों द्वारा उपासित मोक्षमार्ग

[पौष शुक्ला १५ के दिन समयसार गाथा ४०८-४०९ के प्रवचन से]

आत्मा शुद्धज्ञानमय है, वह अमूर्तिक है; ऐसे शुद्ध ज्ञानमय आत्मा में शरीर या रागादि भाव नहीं हैं। देह से और राग से पार ऐसे शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का सेवन, वही मोक्षमार्ग है, परंतु उससे भिन्न ऐसा द्रव्यलिंग—(नग्न शरीर या महाव्रतादि के विकल्प) वह मोक्षमार्ग नहीं हैं। **शुद्ध ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से स्वयं ऐसे मोक्षमार्ग के उपासक होकर आचार्यदेव सर्व अरिहंत देवों को साक्षीरूप से उतारकर कहते हैं कि अहो! सर्व भगवान अरिहंत देवों ने ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है—ऐसा देखने में आता है।** हम तो शरीरादि द्रव्यलिंग

का ममत्व छोड़कर, शुद्धज्ञान के सेवन द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना से मोक्षमार्ग साध रहे हैं, और सर्व अरिहंत भगवंतों ने भी इसी रीति से मोक्षमार्ग की उपासना की थी—ऐसा नि:शंकरूप से हमारे निर्णय में आता है।

यदि देहमय लिंग या उस ओर के शुभ विकल्प वह मोक्ष का कारण हो तो अरिहंत भगवंत उसका ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना किसलिये करते ? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते !—परंतु अरिहंत भगवंतों ने तो शरीरादि से तथा रागादि से विमुख होकर शुद्धज्ञानमय चिदानंद तत्त्व की सन्मुखता द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही उपासना की; इसलिये यह निश्चित हुआ कि देहमय लिंग, वह मोक्षमार्ग नहीं है; राग भी मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थत: दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना ही मोक्षमार्ग है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना किस प्रकार होती है ?—कि शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के सेवन से ही उस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की उपासना होती है।

अहा ! आचार्यदेव की कितनी नि:शंकता ! स्वयं तो अंतर में निर्विकल्प अनुभव में झूलते-झूलते ऐसे मोक्षमार्ग को साध रहे हैं, और नि:शंकतापूर्वक कहते हैं कि सर्व भगवान अरिहंतदेवों के शुद्धज्ञानमयपना है और उन्होंने द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर का ममत्व छोड़ दिया है, इसलिये द्रव्यलिंग के त्याग द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना दिखाई देती है। सर्व तीर्थंकरों ने इस एक ही प्रकार से मोक्षमार्ग की उपासना की है—ऐसा हमारे देखने में आता है।

कोई कहे कि 'देखने में आता है'—ऐसा कहा तो क्या आचार्यदेव ने अरिहंतदेवों को आँखों से देखा है ? वर्तमान में अथवा जब कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, उस काल भी यहाँ अरिहंतदेव तो नहीं थे ?—तो उससे कहते हैं कि—भाई ! आत्मा में जो मोक्षमार्ग का निर्णय हुआ, साक्षात् अनुभव हुआ, वहाँ नि:संदेह विश्वास हो गया कि बस, ऐसा ही मोक्षमार्ग त्रिकाल होता है। और फिर कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तो विदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर से भेंट हुई थी... आठ दिन तक भगवान सीमंधर परमात्मा की सभा में दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था। जहाँ अनेक केवलज्ञानी भगवान विराजमान थे, जहाँ गणधरदेवों और मुनिवरों की टोलियां ऐसे मोक्षमार्ग को साध रही थीं... उन्हें स्वयं अपनी आँखों से देखकर तथा वैसा ही मोक्षमार्ग अपने आत्मा में प्रगट करके आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, मोक्षमार्ग तो इस शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के आश्रय से रत्नत्रय की उपासना से ही होता है—ऐसा हमारे देखने में आता है; अन्य कोई मोक्षमार्ग हमारे देखने में नहीं आता।

ज्ञान प्रत्येक अवस्था में स्वतन्त्र है

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक अध्याय १, सूत्र १, श्लोक नं० २४ की कारिका **भावसाधनातायां ज्ञानस्य फलत्व व्यवस्थितेः प्रमाणस्वभाव इति चेन्न, तच्छक्तेरेव प्रमाणत्वोपपत्तेः।**

ज्ञान को कारणरूप प्रमाणपने का अभाव है, यह कटाक्ष तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस साधकतमपने की शक्ति को ही ज्ञान में प्रमाणपना सिद्ध किया जा चुका है। ज्ञप्ति क्रिया के प्रतिपादन करते समय भी ज्ञान में कारणपने की शक्ति विद्यमान है।

प्रश्न—एकेन्द्रिय अवस्था में तो जीव परतंत्र है न ?

उत्तर—नहीं, वहाँ भी स्वतंत्ररूप से परतंत्रता का अनुसरण स्वयं कर रहा है। श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९७ में कहा है—**संति, अनंता जीवा, यैर्न प्राप्तः त्रसानां परिणामः। भाव कलंक सु प्रचुरा निगोदवासं न मुंचन्ति॥१९७॥**

वे जीव अपने अपराध से दुर्लेश्यारूप भावकलंकरूप परिणामों से अत्यंत अभिभूत रहने के कारण निगोदवास को नहीं छोड़ते, फिर भी निजशक्तिरूप योग्यता के बल द्वारा जो जीव उनमें से विशुद्धि को प्राप्त करते हैं, ऐसे जीव छह महीना और आठ समय में छः सौ आठ जीव निकलते रहते हैं और छः सौ आठ जीव मोक्ष जाने में कोई बाधा नहीं आती।

योग्यता

ताकत, सामर्थ्य, शक्ति, ल्याकत, पात्रता, भव्यता, भवितव्यता, उपादान, कारण, निजशक्ति, कार्य के सन्मुख ऐसी कारणशक्ति उसे योग्यता कहते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, सूत्र १, श्लोक १३६ के बाद वार्तिक में 'योग्यता स्वात्मभूत परिणति मानी गई है। **योग्यता ही कारणास्य कार्योत्पादन शक्तिः, कार्यस्य कारण जन्मत्व शक्तिस्तस्याः प्रतिनियम, शालिबीजांकुरयोश्च भिन्नकालत्वा विशेषपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजननेशक्तिर्नयव-बीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शलि बीज स्येति कथ्यते।'**

कार्यकारण के प्रकरण में योग्यता का अर्थ—कारण की कार्य को पैदा करने की शक्ति और कार्य की कारण से जन्यपने की शक्ति ही है। उस योग्यता का प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणों में नियम करना और यही कहा जाता है कि धान के बीज और धान के अंकुरों में भिन्न-भिन्न समयवृत्तिपने की समानता के होने पर भी साठी चांवल के बीज की ही धान के अंकुर को पैदा

करने की शक्ति है किंतु जौ के बीज की धान के अंकुर पैदा करने की शक्ति नहीं है। तथा उस जौ के बीज की जौ के अंकुर पैदा करने की शक्ति है। हाँ, धान का बीज जौ के अंकुर को नहीं उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है।

'योग्यता' शब्द शास्त्र में कहाँ पर है उसका आधार:—

धवल पुस्तक १ से १६ सैंकड़ों बार तत्पायोग्य-योग्यता शब्द के अर्थ में आये हैं, प्रवचनसार गाथा ४४-१६७-६८-६९ टीका,

समयसार गाथा १३, २७५, ३१८, ३७३ टीका, नियमसार गाथा ६३ टीका, पंचास्तिकाय गाथा ६४, ६८, ९९, टीका; इष्टोपदेश पूज्यपादाचार्य गाथा ३५ टीका तथा गाथा ३ मूल में 'योग्योपादान योगेन'; अष्टशहस्री पृष्ठ २५६ श्लोक ८८ टीका; अष्टशती पृष्ठ ४०, प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ १०५ 'योग्यता एव शरणं'; आप्तपरीक्षा पृष्ठ ५२, ६७, सूत्रजी अध्याय ८-२; तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३७, ९५, १६४, १६६, १७९, १८२-८३, २८४, २८९, ३०५, ३०९, 'योग्यता एव शरणं'; श्लोकवार्तिक पृष्ठ २३०-२४९ संस्कृत, परीक्षामुख अध्याय २, सूत्र ९; गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ५२, १९०-२८६

सत्पुरुष के वचनामृत

(श्रीमद् राजचन्द्र के तथा अन्य लेखों से)

★ सम्यक्त्व हो और शास्त्र के मात्र दो शब्द जाने, तथापि मोक्ष के काम में आते हैं। जो ज्ञान मोक्ष के काम में न आये, वह अज्ञान है। (श्रीमद् राजचन्द्र)

★ पूर्वकाल में इस जीव ने ज्ञानी की वाणी निश्चयरूप से कभी नहीं सुनी, अथवा उस वाणी को सम्यक् प्रकार से शिरोधार्य नहीं किया—ऐसा सर्वदर्शी ने कहा है। (शिरोधार्य करे तो मुक्ति हुए बिना न रहे।)

★ वीतराग-वचनों के प्रभाव से इन्द्रियसुख नीरस न लगे तो उसने ज्ञानी के वचन सुने ही नहीं—ऐसा समझना।

★ मोक्ष में आत्मा के अनुभव का यदि नाश हो जाता हो तो वह मोक्ष किस काम का? (मोक्षदशा में प्रत्येक आत्मा अपने अतीन्द्रिय आत्मसुख का अनुभव करता है, प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है, कोई एक-दूसरे में एकमेक नहीं हो जाता।)

★ शास्त्रकार कहते हैं कि—हमने, तुमने और देवाधिदेव ने भी पूर्वकाल में अन्य भाव भाये हैं और इसीलिये कार्य नहीं हुआ; इसलिये निजभाव भाने की आवश्यकता है... जो निज भाव शांत है, आत्मा का धर्म है और जिसके भान से मुक्ति होती है।

★ ज्ञानी यद्यपि वणिक की भाँति हिसाबी (सूक्ष्मरूप से परीक्षा करके तत्त्व को स्वीकार करनेवाले) हैं, तथापि अंत में लोग समान लोग (-एक सारभूत बात को ग्रहण कर रखनेवाले) होते हैं, अर्थात् अंत में कुछ भी हो, परंतु एक शांतपने से च्युत नहीं होते। और संपूर्ण द्वादशांगी का सार भी यही है।

★ पुनर्जन्म है, अवश्य है, उसके लिये मैं अनुभव से हाँ कहने में अचल हूँ।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

★ पूर्वकाल में यह जीव कहाँ था—ऐसी प्रतीति करनेवाले जीव वर्तमान में भी हैं।

(पूज्य गुरुदेव)

★ संतपना अति-अति दुर्लभ है, संतों की प्राप्ति होना दुर्लभ है। संतपने की जिज्ञासा वाले अनेक हैं परंतु संतपना दुर्लभ सो दुर्लभ है।

★ जो जीव सत्पुरुष के गुण का विचार न करे तथा अपनी कल्पना के आश्रित वर्ते, वह जीव सहजमात्र में भववृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि अमर होने के लिये वह विष पीता है।

★ राग-द्वेष और अज्ञान का आत्यंतिक अभाव करके जिस सहज शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित हुए, वह स्वरूप हमारा स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।

★ जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधस्वरूप है, उस महत्पुरुष को धन्य है।

सोनगढ़ सुवर्णपुरी समाचार—

तारीख ५-११-६५ परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति से विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे परमात्मप्रकाश तथा दोपहर में श्री समयसार, कलश टीका सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार चलता है।

कातिक सुदी ७ आचार्य कल्प श्री पंडित प्रवर टोडरमलजी स्मृति दिवस मनाया गया।

कार्तिक अष्टाह्निका पर्व उत्साह सहित जिन मंदिरजी में बड़ी समूह पूजा सहित मना रहे हैं। तेरह द्वीप संबंधी जिनालय पूजा चलती है। मंगसर बदी ८ आचार्यदेव श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आचार्य पदवी दिन मनाया जावेगा।

धर्मात्मा की संगति

सत्संग का विधान करते हुए भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—लौकिकजनों के संग से संयत भी असंयत होता है; इसलिये यदि श्रमण दुःख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणवान श्रमण के अथवा अधिक गुणवान श्रमण के संग में नित्य वास करो—

अतः श्रमण को होती जो दुःखमुक्ति की ही भावना,
तो नित्य बसना समान अगर विशेष गुणी के संग में। (२७०)

अहा, यह सत्संग का उपदेश मुनियों को सम्बोधन करके भी दिया है तो अन्य जिज्ञासुओं की तो क्या बात! उन्हें तो आत्मार्थ साधने के लिये अवश्य धर्मात्मागुणीजनों के सत्संग में रहना आवश्यक है।

वर्तमान में—कलियुग में भी हमें पूज्य श्री कानजी स्वामी जैसे मंगलमूर्ति संत धर्मात्माओं का साक्षात् सुयोग प्राप्त हुआ है, वह वास्तव में अपना परम भाग्य है। धर्म के जिज्ञासु आत्मार्थी जीव को, दुःख भरे प्रसंगों से भरपूर इस जगत में धर्मात्मा का योग महाशरणरूप है और धर्मात्मा

का योग प्राप्त होने के पश्चात् धर्मात्मा की शीतल छत्रछाया में निरंतर निवास करने का सुयोग मिलना, वह तो मुमुक्षु के लिये महाभाग्य की बात है। जिसप्रकार माता-पिता की उपस्थिति मात्र भी बालक को प्रसन्न करनेवाली एवं हितकारी है। उसीप्रकार धर्मात्मा का संग मुमुक्षु जीव को प्रसन्नकारी एवं हितकारी है।

आत्मार्थी जीव अपनी दृष्टि के सामने सदा धर्मात्मा को देख-देखकर अपने आत्मार्थ का पोषण करता है... अपना सारा जीवन धर्मात्मा के जीवन की भाँति बनाने की भावना भाता है... इसलिये धर्मात्मा के आराधक जीवन को ध्येयरूप रखकर ही वह अपना जीवन जीता है। और जब धर्मात्मा की मीठी दृष्टि या मधुर वाणी उस पर बरसती है, तब उस आत्मार्थी का आत्मा ऐसा आह्लादित होता है कि मानों संतों के अतीन्द्रिय आनंद का ही प्रसाद मिल गया हो!

आत्मार्थ की रक्षा करनेवाली और सदा सन्मार्ग पर ले जाने वाली ऐसी ज्ञानी संतों की मंगल छत्रछाया जिसके सिर पर बनी हुई, उस जीव को जगत की चिन्ताएँ नहीं सता सकतीं, क्योंकि धर्मात्मा का दर्शनमात्र भी संसार संबंधी समस्त चिंताओं को भुलाकर आत्मा को मोक्षमार्ग के प्रति उत्साहित करता है।

अहा, ऐसे धर्मात्मा जगत में सदा जयवंत वर्तें कि जिनकी संगति द्वारा सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है।

धर्म प्रभावना समाचार—

महीदपुर (मध्यप्रदेश)— ब्रह्मचारी पंडित श्री झमकलालजी पर्यूषण पर आमंत्रण से पधारे थे, उनके समागम से समाज को सही दिशा मिली, अपूर्वज्ञान द्वारा जैनधर्म का बोध हुआ, त्यागी और योग्य विद्वानों के समागम को पाकर समाज गौरवान्वित हुआ। (आशा है भविष्य में इसीप्रकार संस्था धर्म लाभ प्रदान करती रहेगी। समाचार भूल से गतांक में छूट गये थे-संपादक)

—शांतिलाल सोगानी

नया प्रकाशन

(श्री प्रवचनसार शास्त्र-दूसरी आवृत्ति)

यह शास्त्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पवित्र अध्यात्मसाररूप महान ज्ञान निधि है। जिसमें सातिशय निर्मल ज्ञान के धारक महामहर्षि श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान-दर्शन (ज्ञेय) और चारित्र अधिकार में स्वानुभव गर्भित युक्ति के बल द्वारा सुनिश्चित द्रव्य-गुण-पर्यायों का विज्ञान, सर्वज्ञ स्वभाव की यथार्थता, स्व-पर ज्ञेयों की स्वतंत्रता, विभाव (अशुद्धभाव) की विपरीतता बताकर अंत में ४७ नयों का वर्णन भी संस्कृत टीका द्वारा ऐसे सुंदर ढंग से किया है कि सर्वज्ञ स्वभाव की महिमा सहित विनय से स्वाध्यायकर्ता अपने को धन्य माने बिना नहीं रह सकते।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने समस्त जिनागम के साररूप रहस्य को खोलकर धर्म जिज्ञासुओं के प्रति परमोपकार किया है। उसी टीका का प्रामाणिक अनुवाद, बड़े टाइप में उत्तम छपाई, बढ़िया कागज, रेगजिन कपड़े वाली बढ़िया जिल्द, प्रत्येक गाथा लाल स्याही में छपी है। सभी जिज्ञासु यथार्थ लाभ लें, ऐसी भावनावश मूल्य लागत से भी बहुत कम, मात्र ४) रुपया रखा गया है। पृष्ठ ४७०, पोस्टेज २-१०) पैसे, (किसी को कमीशन नहीं है)

(यह शास्त्र बंबई, दिल्ली, सहारनपुर, बड़ौत, उदयपुर, जयपुर, सागर, भोपाल, उज्जैन, इंदौर, विदिशा, गुना, अशोकनगर, ललितपुर, जबलपुर, खंडवा, सनावद, दाहोद, अहमदाबाद, आदि में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा भी प्राप्त हो सकेगा।)

सूचना

माननीय श्री रामजीभाई दोशी भूतपूर्व प्रमुख श्री के सन्मान समारोह पर जो निधि एकत्र हुई, उसमें से सर्वज्ञवीतराग कथित तत्त्वज्ञान का विशेष प्रचार करने का निर्णय हुआ है, उसके अनुसार पोषसुदी १५ तक कम किये हुए मूल्य से हिन्दी पुस्तकें देने की विज्ञप्ति दी है।

धर्म जिज्ञासुओं को यह समाचार मिलते ही बहुत बड़ी-बड़ी संख्या में पुस्तकों की मांग आने लगी है। तारीख ५-११-६५ को एक तार सागर से ५०० मोक्षशास्त्र, ५०० ज्ञानज्ञेय स्वभाव, ५०० आत्मप्रसिद्धि भेजने के लिये तथा दूसरा तार ५०० मोक्षशास्त्र, २०० ज्ञान-ज्ञेयस्वभाव; १०० आत्मप्रसिद्धि भेजने के लिये आया है। ये पुस्तकें घर-घर पर वितरण करने के लिये बुलाई हैं, किंतु स्टाक में इतनी बड़ी संख्या में नहीं हैं। प्रचार का आशय व्यक्तियों को मर्यादित पुस्तक देने का है। एक व्यक्ति को ज्यादा दे सकेंगे नहीं, हमारी विनती ध्यान में रखकर मंदिर, व्यक्ति, संस्था मर्यादित पुस्तक बुलावें, ऐसी प्रार्थना है। आर्डर बड़ी संख्या में आ रहे हैं, एकत्र हो रहे हैं। अतः १५ दिन बाद निर्णय करके उचित संख्या में पुस्तकें भेजी जायेंगी।

[उपरोक्त योजना के अनुसार हिन्दी 'आत्मधर्म' जिसका वर्ष आगामी वैशाख मास से प्रारम्भ होगा, उसका चंदा आगामी एक वर्ष के लिये ३-०० की जगह २-०० रखा जायेगा। ग्राहकगण इसकी नोंध लेने की कृपा करें।]

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

स्वाध्याय प्रेमियों के लिये उत्तम अवसर

✤ सुरुचिपूर्ण साहित्य का नया सूचिपत्र ✤

सही मूल्य	हिन्दी पुस्तक के नाम	कम किया हुआ मूल्य
५-००	मोक्षशास्त्र	१-००
३-५६	समयसार, प्र. भाग १	१-५०
४-००	समयसार, प्र. भाग ८	२-००

३-५०	आत्मप्रसिद्धि (समयसार ४७ शक्तियों पर विस्तार से प्रवचन)	१-५०
१-००	जैन तत्त्वमीमांसा	०-५०
०-८५	द्रव्यसंग्रह	०-५०
०-५०	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्र.	०-३७
०-५०	सन्मति संदेश (श्री कानजीस्वामी जयंति विशेषांक)	०-१२
२-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	१-००
०-५३	दसलक्षणधर्म (पद्मनंदी में से प्रवचन)	०-३७
१-००	अपूर्व अवसर काव्य पर प्रवचन तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-५०
२-००	मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें, भाग-२	१-००
०-५०	मूल में भूल	०-३७
३-२५	'आत्मधर्म' आध्यात्मिक मासिक पत्र की हरेक साल की फाइल वर्ष ५, ६, १०, ११, १३, १६, १७, २०	०-५०

माननीय श्री रामजीभाई दोशी के सन्मान समारंभ के अवसर पर एकत्रित हुई निधि में से ज्ञान प्रचारार्थ उपरोक्त पुस्तकों का मूल्य कम करने में आया है।

इस योजना का लाभ पोष सुदी १५ तक मिलेगा और स्टाक में होगी, तब तक ही मिलेगा। किसी भी पुस्तक विक्रेता को उक्त योजना का लाभ नहीं मिलेगा।

प्रकाशक
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

शांति का सच्चा रास्ता

बम्बई नगरी में गुरुदेव को 'हीरक जयन्ति-अभिनंदन ग्रंथ' अर्पण करने के पश्चात् श्री लाल बहादुरजी शास्त्री के दिये हुए भाषण में अंतिम शब्द यह थे—'मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई... मैं फिर एक बार अपना आदर सन्मान और श्रद्धांजलि प्रगट करता हूँ, और यह निवेदन करता हूँ कि जो मार्ग—जो रास्ता अहिंसा और शांति का, चारित्र का, नैतिकता का—आप दिखाते हैं, उस पर यदि हम चलेंगे तो उसमें हमारा भी भला होगा, समाज का भी होगा, व देश का भी होगा'—सच बात है शास्त्रीजी! देश का, समाज का या व्यक्ति का हित वही मार्ग है कि जो मार्ग पूज्य कानजीस्वामी जैसे संत दर्शा रहे हैं।—हमारे राष्ट्र में उस मार्ग का उद्योत हो।

[आगमन की राह देखते... ठीक मौके पर उपस्थित होकर माननीय शास्त्रीजी ने विनय सहित गुरुदेव को जो अभिनंदन-पत्र अर्पण किये थे, उस ग्रन्थ की अब बहुत अल्प नकल है। मूल्य ९)]

—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।